शरद जोशी

(व्यंग्य प्रधान कहानियाँ)

मय सूद के

आरिगपूडि

आर्य बुक डिपो
करोल बाग, नई दिल्ली-110005

प्रकाशक :
सुखपाल गुप्त
आर्य बुक डिपो
30, नाईवाला, करौल बाग,
नई दिल्ली-110005

दूरभाष : 561221, 560363

मूल्य : 20.00

प्रथम संस्करण : 1984

मुद्रक :
सोहन प्रिंटिंग सर्विस
शाहदरा, दिल्ली-32

प्रकाशकीय

हिन्दी-कथा-साहित्य को आज की स्थिति में पहुंचाने तथा इसके विकास में हिन्दी भाषी लेखकों का तो योगदान रहा है, वहाँ अहिन्दी भाषी लेखकों ने मूल हिन्दी में साहित्य सृजन कर जो योग दिया है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

हिन्दी-कथा-साहित्य को समृद्ध करने में दक्षिण भारत के तेलगुभाषी हिन्दी के यशस्वी लेखक स्वर्गीय आरिगपूडि का जो गत चार दशक तक सम्पर्क बना रहा है, उसे भुलाया नहीं जा सकता है। आपने अपने जीवनकाल में दर्जन से अधिक उपन्यास तथा कई कहानीसंग्रह हिन्दी जगत् को दिये। उनकी पर्याप्त कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित और लोकप्रिय हुई हैं। उनकी सौ से अधिक कहानियाँ उत्तर एवं दक्षिण के लगभग सभी पत्र और पत्रिकाओं में छप चुकी हैं।

आरिगपूडि जी की रचनाओं में हमें वर्तमान समाज का सजीव एवं यथार्थ चित्रण मिलता है। उन्होंने जहाँ अपनी रचनाओं में निम्न वर्ग, दलित वर्ग तथा मध्यवर्ग की समस्याओं को उभारा है, वहाँ उच्च वर्ग तथाकथित सभ्य समाज के खोखलेपन तथा दिखावटी जीवन का भी दिग्दर्शन कराने में नहीं चूके हैं। रोचकता से उन्होंने अपनी कहानियों में प्रभावी ढंग से समस्याओं का चित्रण कर पाठकों का जहाँ मनोरंजन किया है वहीं कुछ सोचने-समझने के लिए भी विवश किया है।

प्रस्तुत कहानीसंग्रह 'मय सूद के' अपने जीवनकाल में प्रकाशित नहीं करवा पाये थे। प्रस्तुत संग्रह उनकी अप्रकाशित प्रभावी व्यंग्य प्रधान कहानियाँ हैं। हमें विश्वास है कि इनके पहले के संग्रहों की भांति यह संग्रह भी पाठकों को रुचिकर लगेगा।

हमारी कोशिश होगी कि 'आरिगपूडि' जी की अब तक अप्रकाशित कहानियाँ धीरे-धीरे हिन्दी-कथा-प्रेमियों तक पहुंचा दें। इस प्रकार वह हमारे मध्य चिर-काल तक बने रहेंगे।

प्रकाशक

कहानी-क्रम

जब बाढ़ आई

कहते हैं, वह गांव, गांव नहीं है, जिसमे मन्दिर न हो, तालाब न हो। हमारे गांव मे ये एक नही कई हैं। एक नदी भी है। उस पर कोई तीर्थ तो नही है पर कई उसमें स्नान करके अपने को पवित्र मानते हैं।

हर चीज का इतिहास होता है, इन मंदिरों और तालाबों का भी है। शायद नदी का भी हो, और कुछ नही कल्पना तो होगी ही, और है। कहा जाता है कि सुग्रीव की सेना ने कभी इसमे स्नान किया था और इतना स्नान किया कि सारा पानी ही करीब-करीब खत्म हो गया। नदी का पाट काफी बड़ा है और पानी के नाम पर एक छोटा-सा रेंगता-सा नाला है, जिसमे से लोग लोटे मे पानी लेकर उसी तरह नहाते है जिस तरह हौज से।

मन्दिर का इतिहास हर कोई जानता है। गांव के बड़े-बूढ़े उसे भूलने नहीं देते। हर साल उसमें एक-दो उत्सव बड़े जोर-शोर से मनाये जाते हैं। और इन उत्सवों को लेकर कितनी ही कहानियां बन गई हैं। इतनी कि कभी-कभी लगता है कि जैसे हमारा धर्म कहानियों के सहारे ही खड़ा हो।

आस पास कहीं कोई पहाड़ नहीं है। सपाट मैदान है। और वह भी सूखा-सूखा-सा। पर मन्दिर एक टीले पर है। कहते हैं जब तालाब खोदा गया तब सारी मिट्टी यहां जमा कर दी गई थी, फिर गांव के चौधरियों के कहने पर खेतों मे से पत्थर चुने गए और टीले पर जमा किए गए, और इस तरह जिस प्रकार तालाब बना, उसी तरह एक छोटी-सी पहाड़ी भी बन गई।

तालाब तो बना दिया गया, लेकिन उसमें पानी कहां से आए? बारिश का कोई भरोसा नहीं, कभी-कभी इतना बरसता कि बरसते-बरसते आसमान ही रीत जाता, और कभी-कभी यूं तरसता कि आसमान ही पानी के लिए मोहताज लगता। इसलिए तालाब नदी के पास बनाया गया, ताकि जब कभी बरसात में

उसमे बाढ़ आए, तो बाढ का पानी तालाब मे आ जाए। इस तरह तालाब में पानी का पानी आ जाता, और बाढ़ से गांव की भी रक्षा हो जाती। और यह कई बार हुआ था, लोगो को भगवान को धन्यवाद देना चाहिए था, लेकिन उन्होंने दिया नही।

एक बार ऐसा हुआ कि जोर से बाढ़ आई, तालाब भर गया। इतना भरा कि उसके बन्ध टूट गए। पानी गाँव मे आ गया, गलियाँ नहरें-सी बन गईं। बरबादी हुई। गाँव में ही नही, आस-पास के गाँवों मे भी हाय-हाय मच गई। बीमारियाँ फैली और बहुत-से लोग मरे।

कई कारण थे, पर एक कारण था जिस पर अधिक लोगों ने अधिक विश्वास किया, वह यह कि बाढ बाढ़ नहीं परमात्मा का प्रकोप था। उन लोगो ने, जिनको परमात्मा ने इतना कुछ दिया था, उस पर फूल चढाने के लिए एक मन्दिर भी तो नहीं बनाया था। अगर कोई गाँव का आदमी यह कहता तो शायद विश्वास नही किया जाता।

बाढ़ के कुछ दिन बाद, जब कि गाँव में हाय-तोबा मची हुई थी, तो एक सन्त काशी जाते-जाते वहाँ आए। अन्धेरा हो गया था। गाँव वालों ने उनको रात टिक जाने के लिए कहा। लेकिन सन्त ने कहा, "मैं उस गाँव मे नहीं रहता जिसमें कोई मन्दिर न हो। मन्दिर बनाओ, नही तो एक दिन वह भी आएगा जब इस गाँव का नामो-निशाँ नही रहेगा, और नदी उसे निगल जाएगी। सन्त घरों में नहीं रहते हैं, मन्दिरो में रहते हैं, और जिस गाँव में सन्त नही रहते उसका अन्त हो जाता है।"

यह बात ही कुछ ऐसी थी कि लोगों को लग गई। कोई आस्तिक हो या न हो, भय तो सब मे होता ही है। फिर बात यदि सम्पत्ति की सुरक्षा की हो तो वह भय इतना भयकर हो जाता है कि मन्दिर तो मन्दिर लोग भगवान तक को बना देते है।

फिर देखते-देखते उस टीले पर एक मन्दिर भी उसी तरह बना जिस तरह कभी टीला बनाया गया था। सारे गाँव का, क्या बड़ा, क्या छोटा, क्या कुलीन क्या अकुलीन इसके निर्माण मे हाथ था। यह गाँव वालो का—हर किसी का अपना मन्दिर था।

इसमें पूजा-पाठ प्रार्थना के लिए पुरोहित भी है, और पुरोहित पीढ़ी-दर-

पीढ़ी चले आते हैं। कभी गाँव के दो-चार मुखिया उसके खाने-पीने के लिए सब समान देते थे, और आज उसे पंचायत से वेतन मिलता है।

खैर, जब एक मन्दिर बना तो दूसरा भी बना। एक शैव दूसरा वैष्णव, और जब ये दो बने तो गाँव की देवी का भी मन्दिर बना। एक और मन्दिर हाल में इसलिए बन गया क्योंकि इसके बनाने वाले को कभी कत्ल की सजा मिली थी और वह अपील करने पर छोड दिया गया था। और उसने जाने प्रायश्चित्त के रूप मे या कृतज्ञता के रूप में नदी के किनारे एक और मन्दिर बनवा दिया।

भगवान को मालूम हो या न हो, पर इन मन्दिरो को लेकर गाँव वालों में काफी राजनीति थी, काफी दाँव-पेंच खेले जाते थे।

नहीं मालूम कि इस गाँव का कोई स्थल पुराण है कि नही, पर जब सुग्रीव का बात कही जाती है, तो होगी ही। पर मन्दिर का मोटा-सा इतिहास यही है।

आज मन्दिर से सीतारामय्या सिद्धान्ती पुरोहित है। गाँव मे इनका काफी सम्मान है। प्रभाव है। जब से इनका एक लड़का आई० ए० एस० मे पास हुआ है तब से तो इनकी धाक और भी बढ गई है। ये गाँव के ज्योतिषी है और वैद्य भी। कभी इनके पिता इस मन्दिर के पुजारी थे। पर कहा नही जा सकता कि सीतारामय्या सिद्धान्ती का कोई लडका पुजारी बनेगा कि नही। उनका बड़ा परिवार है, तीन लडके और चार लडकियाँ, और सभी इस मन्दिर के भरोसे पले और बड़े हुए हैं। पढ़े-लिखे हैं। मन्दिर के पीछे, टीले की ढलान पर उनका छोटा मकान है, जिसे गाँव वालों ने ही बनवाया था।

अगर इस मन्दिर को और मन्दिरों से अच्छा माना जाता है, तो इसका एक कारण प्रभावशाली सीतारमय्या का पुजारी होना भी है।

यही नही गाँव के आभिजात्य समाज के वे मुखिया से है। पहले यह कभी किसानों का ही गाँव था। पर आज कल मन्दिरों के सहारे और मन्दिरो मे होने वाले उत्सवो के भरोसे, कई परिवार ऐसे हैं, जिनका खेतीबाडी से कोई सम्बन्ध नही है। कई ब्राह्मण परिवार है, उनमे कुछ पुरोहिती करते है। कई गाँव की प्राथमिक पाठशाला मे अध्यापक हैं। उनके पास सम्पत्ति वगैरह तो विशेष नहीं है, पर उनका प्रभाव बहुत ज्यादह है।

सुग्रीव की कहानी के बावजूद, सन्त के आदेश के बावजूद और सिद्धान्ती के प्रभाव के बावजूद, मन्दिर का इतिहास फीका-फीका ही रहता यदि हाल मे इसके

इतिहास मे एक और अध्याय न जुड़ जाता। इसी नदी के कारण तालाब बना था, और तालाब के कारण टीला और टीले पर मन्दिर। अब उसी नदी के कारण कुछ ऐसा वातावरण बन गया था कि कहा नही जा सकता था कि मन्दिर का आगे का इतिहास क्या होगा ?

बात ऐसी हुई। चार-पाँच वर्ष तो कोई विशेष वर्षा नहीं हुई। पानी की जबर्दस्त तंगी, नदी की पतली धार भी सूख गई थी। त्राहि-त्राहि मच गई। मन्दिरो मे पूजा-पाठ हुआ, वरुण देवता की प्रार्थना की गई।

शायद प्रार्थना ज्यादह हो गई थी, इसलिए जब वर्षा होने लगी तो उसने रुकने का नाम न लिया। तीन-चार दिन तक लगातार बरसता रहा और इतना बरसा कि चार-पाँच सालो में कुल मिला कर उतनी वर्षा न हुई थी। तूफान आया। कितने ही मकान मिट्टी मे चपटे हो गए। पेड़-पौधे उखड गए। पर बरसा थी कि थमती ही न थी।

तालब जो मुख बाया सूखा-सूखा था, इतना भरा कि उसका बन्ध ही टूट गया। सब जगह पानी। वह नदी जो पानी के लिए तरस रही थी, फूली हुई थी। इसमे भयकर बाढ़ आ गई थी। बाढ का पानी गाँव मे आ गया। गाँव के इने-गिने पक्के मकानो में भी वह जा घुसा। कितनी ही झोपड़ियाँ पानी मे तैरने-सी लगी। और लोग कब तक ठिठुरते-ठिठुरते घरो में बैठ सकते थे ?

बाढ का पानी बढ़ता गया। पहले घुटने तक, फिर देखते-देखते, छाती को छूने लगा। जो कुछ वे बचा सके, उसे हाथ मे ले, आस-पास के घरो मे जा घुसे। कई ने छत पर रात गुजारी। सारे गाँव ने दो-तीन दिन रतजगा किया। पहले कभी वर्षा के लिए प्रार्थना की थी, अब हाथ जोड़कर यूँ बादलो की ओर घूर रहे थे *जैसे आसमान को मना रहे हों कि काफी हो गया अब बस करो।*

पर कई ऐसे थे, जिनको घरों मे भी शरण न मिल सकी। एक तो घर पानी से भर गए थे। स्कूल भर गया था, कही शरण लेने के लिए जगह भी न थी। और वे ऐसे थे जो आफत के दिनो मे भी औरो के घर बेधड़क जा नही पाते थे। उनकी अलग बस्ती थी। तालाब के परली तरफ, कीकरों के पीछे। वहाँ अब पानी ही पानी था। जहाँ झोपड़ियाँ थी, वहाँ अब तालाब था। वे कहाँ जाते ?

वे टीले पर जा चढ़े। सीताराम सिद्धान्ती ने मन्दिर के दरवाजे बन्द करने चाहे। शायद वह उन्हें बन्द भी कर देते। यदि उनमे से दो-तीन ठिठुर कर मन्दिर

के द्वार पर ही न लुढ़क जाते। और गाँव के दो-चार नवयुवक उनको मन्दिर के अन्दर न ले जाते।

मन्दिर में अछूतों के लिए जाने की मुमानियत न थी, कानूनन वे जा सकते थे। पर अकसर वे जाते न थे। जब कभी मन्दिर में पूजा होती, घंटे नगाड़े बजाये जाते, तो वे घर ही घर सुनते और यह अनुभव करते जैसे वे मन्दिर में हो आये हों। उत्सव होते तो वे घर बैठे ही उनमें शामिल होते। और जब मन्दिर की मूर्ति का जलूस पास के गाँव में निकलता तो वे प्राय: नशे मे पड़े रहते, जैसे बिना नशे के वे भगवान के बारे मे सोच भी न पाते हो।

अगर बाढ न आती, और उनकी झोपड़ियो को तालाब का पानी न निगल लेता तो शायद वे टीले पर भी न आते। नवयुवको को हौंसला न होता, बढावा न होता तो मन्दिर के अन्दर भी पैर न रखते।

जब एक दो हिम्मत करके अन्दर चले गए, तो उनके साथ और भी अन्दर जा घुसे, जहाँ वे जा सकते थे और कभी गए न थे, अब वे वहाँ अपनी चौकड़ी लगाए हुए थे—बैठे-बैठे बीडी-सिगरेट पी रहे थे मानो खाने के लिए न होने पर धुंआ पीकर ही अपना पेट भरने के आदी थे।

बाहर कहाँ जाते? बाहर मूसलाधार बारिश और अन्दर बौछार। कुछ भी हो, खाली पेट मे भी इतना कुछ रह जाता है, कि उसे बाहर करना ही होता है। कही जाने की कोई जगह नही, हालत ऐसी कि लोगो ने शर्म को भी छुट्टी दे रखी थी। वही गन्दगी की गई।

जो ठीक मौसम मे अपने घरो मे ही साफ न रहते थे, बरसात मे और कहीं क्या रहते? मन्दिर हो तो हो, वे तो नहीं बदल सकते थे।

सीतारामय्या सिद्धान्ती, एक दो-बार छाता पकडे, नाक पर कपडा रखे, आँखें इधर-उधर घुमाते आये। फिर चिढ़ते-कुढ़ते चले गये। दो दिन वे उस तरफ न आये। मन्दिर के प्रांगण मे तो लोग थे ही। मन्दिर की देहली पर भी दो-चार परिवारों ने धरना दे रखा था।

तीन-चार दिन वे वहां ही रहे। वर्षा तो रुकी लेकिन नदी मे पानी के हटते-हटते तीन-चार दिन और लग गये। और तालाब के पानी के सिमटते-सिमटते तो एक और हफ्ता लग गया।

वे कहां जाते, जो झोपड़ियां थीं, वे ढह चुकी थीं। कीकरों के नीचे क्यों रहते

जब कि मन्दिर मे आराम मिला हुआ था ? कुछ नवयुवकों ने उनको खिलाना-पिलाना भी शुरू कर दिया था। उनको स्कूल में जगह दी जा सकती थी। पर स्कूल बन्द कर देना उचित न समझा गया।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि मन्दिर में जहां बिना नागे पूजा होती आयी थी, पांच-दस दिन पूजा न हुई। सीतारामय्या उन लोगों को झाड़ू देकर भगा देते, अगर वे दो-चार नवयुवक उनके रास्ते में न आते।

क्या इन लोगों को इसी मन्दिर मे आ मरना था ? और मन्दिरों मे वे क्यों जाते, जहां छाती भर पानी मे भगवान की मूर्तियां खुद डुबकियां लगा रही हों। सीतारामय्या पूछते, और स्वयं उसका जवाब देते। वे विवश थे।

पहले दो-चार दिन तो वे बहुत ही झुंझलाये। फिर वे अपने मकान के सामने इस तरह चहलकदमी करते, मानो वे मन्दिर मे जाना चहते हों, और लाख जंजीर बांध कर उनको उसके अन्दर न जाने दिया जा रहा हो।

जब मंदिर खाली हुआ तब भी वे न गये। मंदिर अपवित्र हो गया था। इतने सारे अपवित्र लोग उसमे जमा हो गये थे कि उन्होने कहा कि उसका पवित्रीकरण कराना होगा, और उसके लिये आवश्यक अनुष्ठान करने होगे। वे इस सम्बन्ध मे, गांव के मुखियाओं से मिल भी आये। चन्दा इकट्ठा किया जा रहा था। जब गांव को ही चन्दे की जरूरत हो तो मन्दिर के लिये वे कहां से इकट्ठा करते ?

जब बाहर इतना चन्दा इकट्ठा किया जा रहा था तो मन्दिर के लिये भी इकट्ठा किया जा सकता था।

सीतारामय्या उस शहर मे चले गये, जहां उनका लडका अफसर था। पवित्रीकरण के नाम पर तो चन्दा इकट्ठा नहीं किया जा सकता था पर मन्दिर की मरम्मत के लिये और उसके पुनरोद्धार के लिये जरूर इकट्ठा किया जा सकता था। बहुत से धर्म प्राण लोग थे उस शहर मे। जल्द ही काफी कुछ धन इकट्ठा हो गया। लेकिन इस बीच मन्दिर बन्द रहा।

जब गांव मे जीवन यथा पूर्व चलने लगा, तब सिद्धान्ती वापिस गये। मन्दिर को धोया गया, साफ किया गया। सुगन्धित धुंआ किया गया। मन्त्र पाठ किया गया। यज्ञ किया गया। मूर्तियों का दूध और शहद से अभिषेक किया गया। उत्सव मनाया गया।

मन्दिर की मरम्मत तो खास नहीं हुई थी, चूंकि नुकसान ही कम हुआ था। सफेदी, हां, कर दी गई थी। पर यह न पता लगा कि कितना चन्दा इकट्ठा किया गया था, और उसमें से कितना और किस तरह-खर्चा गया था।

जब मन्दिर में रखे आभूषणों की देख परख की गई तो पाया गया कि मूर्तियों के बहुत-से आभूपण गायब थे। कौन किससे कहे। इतने सारे लोग, और हर तरह के चोर चपाटे और इतने दिन मन्दिर में रहे। लोग ऐसे थे कि गनीमत थी कि मन्दिर के ईंट-पत्थर सलामत थे।

शिकायत हुई, तहकीकात हुई, और अब भी हो रही है। मन्दिर में पहले की तरह पूजा होने लगी है, पर वे लोग उसमें नहीं आ रहे हैं, जो पहले आया करते थे। पवित्रीकरण के बाद भी उनके लिये शायद मन्दिर सदा के लिये अपवित्र हो गया था परन्तु हरिजनों का आना-जाना बढ़ गया था।

सिद्धान्ती को धन्यवाद देने के लिए एक सभा बुलायी गई। लम्बे-चौड़े भाषण हुये। अगर वे चन्दा न वसूलते, तो कहा गया मन्दिर भी टीले में मिल जाता। इसलिये उनकी सेवा के स्मरणार्थ मन्दिर के गोपुरं में, एक पत्थर पर बाढ़ का विवरण देते हुये यह खुदवा दिया गया कि सीतारामय्या सिद्धान्ती की श्रद्धा और भक्ति के कारण, और जनता की उदारता के फलस्वरूप, मन्दिर का पुनरुद्धरण हुआ।

इस सभा के बाद, सिद्धान्ती वहाँ अधिक दिन न रहे। कहा गया कि उनको दिल का दौरा पड़ने लगा था। वे सपरिवार अपने अफसर लड़के के यहाँ रहने लगे।

पुजारी की नौकरी के बगैर भी उनका गुजारा चल रहा था। और खूब मजे में चल रहा था। वे जानते थे कि आभूषणों की चोरी की तहकीकात भी कुछ दिन उसी तरह चलेगी, जिस तरह बाढ के बाद चन्दे की धूम चलती है। और ठंडी पड़ जाती है।

उनको यही आश्वासन था कि बिना आभूषणों के भी मूर्तियाँ पूज्य रहती हैं। सोने के आभूषण चोरी के ही हो, पर मार्केट में उनकी कीमत तो उतनी ही रहती है। उनके बेचने से आयी हुई अमीरी में तो कोई फर्क नहीं होता। और जब अमीरी को अफसरी का साया मिला हो तो कहना ही क्या ?

लोग यह भी न जान सके कि भगवान अगर चुप रहते हैं तो क्यों रहते हैं ?

मूर्ति में भगवान बसते हैं कि नहीं ? बाढ़ चली आयी और चली गई मन्दिर के कपाट जो हमेशा खुले रहते थे अब प्रायः बन्द रहते हैं। वहाँ कोई पुजारी नहीं है। उत्सवों के समय पर ही ये कभी-कभी खुलते हैं। सीतारामदास सिद्धान्ती भी सब लड़खड़ाते आते हैं। और लोग उनको उसी आदर की दृष्टि से देखते हैं, जैसे चोरी करके भी वे पवित्र पुजारी हों, और मन्दिर 'पवित्र' किये जाने पर भी 'अपवित्र' रह गया हो।

• •

मौत जो दे देते

जब वे तीनो आई थीं, तो किसी को कोई खबर न थी। अब भी किसी को कुछ न पता होता अगर एक गन्दी घटना न घटती। यूं तो जिन्दगी ही चक्की थी, इस घटना के बाद तो वह गले का पत्थर-सा बन गई थी, न ढोते बने, न फेंकते बने।

अगर नगर के लुच्चे-उचक्के, कुछ करते कराते तो भी कोई बात थी, और कुछ नही तो वे किसी न किसी तरह का मुकाबला कर ही सकती थीं, पाँच-दस लोग बचाते ही। गरीबी ही सही, अभी दुनिया इतनी कमीनी नही कि आँखों के सामने कमसिन लड़कियो पर हमला हो रहा हो, और वे बिना हिले-डुले आँखों पर हाथ रखे रहें। इसलिए बात कुछ अजीब-सी ही थी। हमदर्द भी शायद हमदर्दी न दिखा पाते थे।

कमला, सरला, विमला तीन बहिनें थीं, सयानी, सलोनी। क्वारी। बड़ी की उम्र कोई बाईस की, सरला की उन्नीस की, और विमला की अट्ठारह की··· ऐसी उम्र जब जवानी कली की तरह मिलती है। महकती है। और वे? जवानी ही उनकी दुश्मन-सी थी।

काश, वे भी और लड़कियों की तरह, माँ-बाप के पास रहती। और वक्त पर स्कूल जातीं, पढ़तीं और पास होती। कुछ भी तो जिन्दगी मे ऐसा न हुआ जिसे हर कोई मामूली समझता है। हर बात उनके बारे मे शायद गैर-मामूली-सी थी।

जिस उम्र में स्त्रियां स्कूल छोड़-छाड़कर, गृहस्थियां बसाने लगती हैं, वे तीनो रोजी-रोटी का रास्ता ढूंढती, रेंगती-रेंगती उस छोटे-से नगर में आई थीं। जिन मुसीबतो से भाग कर आई थीं, मानो वे मुसीबतें भी, उनके साथ होड़ करती भागती चली आई थीं।

स्कूल फाइनेल तक तीनों ने गाँव मे ही पढ़ा था, शिक्षा निःशुल्क थी, बढ़ती गरीबी मे, शायद यही एक शहतीर की तरह था, जिसके सहारे वे संसार मे कुछ हद तक हाथ-पैर मार सकते थे।

फिर शादी के इन्तजार मे दो-तीन साल घर बैठा रहना पड़ा। जहाँ हजारों का दहेज देने पर भी माँ-बाप लड़कियो के हाथ पीले नही कर पाते हैं वहाँ उनसे बिना दहेज के कौन शादी करे ? समाज सुधारक भी शायद वक्त पर नहीं आते। उनका परिवार कुछ ऐसा कि दहेज की बात तो दूर, खाने-पीने का गुजारा ही जाए, यही काफी था। तैरने वाले विवाह के सहारे तैर जाते हैं। पर विवाह हो तब न ? और कुछ न सही, जाति तो बड़ी ही थी, प्रतिष्ठा थी, घराना गरीब ही सही, कोई न कोई तो भूला भटका आता, और उनको किनारे लगा देता।

यूँ चैन कम, और देहली पर तीन-तीन क्वारी लड़कियाँ हों तो घर दोजख हो जाता है उनका हो ही गया था। पास इतना पैसा नही कि शादी के लिए दौड़-धूप करें। चप्पल घिसें। कभी होते होंगे स्वयवर, कभी होता होगा अभिसार। पर ये दोनो ही इन तीनों लड़कियों की हिम्मत से परे।

न मालूम क्या होता, अगर कमला तग आकर छोटे नगर में स्कूल टीचरी न कर लेती। तनख्वाह अस्सी रुपये की। दिन में पढ़ाती थी और रात में मिट्टी के तेल की डिबिया की रोशनी मे खुद पढती थी, वह बी० ए० करना चाहती थी।

जिनको खाना ही म मयस्सर न हो, वे दो और लड़कियों को क्या पढ़ाते, इस लिए कमला, अपनी दोनों बहिनों को अपने साथ कस्बे मे ले आई थी। लड़की अकेली हो तो पशु भी हाथ मारने की शायद हिमाकत रखता है तीन हों, तो दिलेर भी दबे पाँव आते हिचकते हैं। जब कमला अपनी बहिनों को ले आई तो सोचने वालों ने यही सोचा।

जो भी हो, कमला के सहारे, या उसके अस्सी रुपये के भरोसे तीन प्राणी अपना जीवन बिता रहे थे। सरला और विमला भी 'भाषा प्रवीण' का कोर्स पढ रही थी। वे सोच रही थी कि अगर दो-तीन साल और मेहनत की गई तो वे अपने पैरों पर खड़ी हो सकेंगी। मगर···। अगर हर बात हर किसी की मर्जी के मुताबिक हो तो मुकद्दर को लेकर क्यों रोना-धोना ?

कमला अपनी बहिनों के साथ एक ऐसे मोहल्ले में रह रही थी, जो उस छोटे नगर मे, बड़े आदमियों का मोहल्ला था। एक छोर पर, एक बड़े बगले के आउट

हाउस में,—आउट हाउस तो क्या, छोटा-सा झोपड़ा था, सड़क से दूर। किराया भी बहुत कम। रोजमर्रे की तंगी के बावजूद सब कुछ ठीक तरह चल रहा था कि एकाएक मामला उलझ गया।

बाप ठीक होते, और मां पति के बजाय बच्चों की ओर ज्यादह तवज्जे देती, तो बात इतनी दूर आती ही क्यों, फिर बाप अगर बिगड़े थे तो किसका कसूर था ? किसका क्या कसूर है, जब हर किसी की अपनी-अपनी किस्मत है और किस्मत बनाने वाला कोई और है। ये बातें न कमला के मन में आती थी, न विमला के, न सरला के ही। वे तो तब चिन्तित थी कि क्या यह सब उन पर ही गुजरना था। आखिर उन्होंने किया ही क्या था ? मगर जब बात किस्मत तक पहुंच गई हो, तो ये सब प्रश्न बेमतलब के हैं।

हां, तो कमला, अपनी दो बहिनों को ही न पाल रही थी, पर कभी-कभार, अपने पिता को भी कुछ रुपये भेजती थी। और वह सब अस्सी रुपये पर और सन पिछत्तर में, जब रुपये की कीमत बेहिसाब घट चुकी थी।

कभी वे खाती तो कभी न खाती, एक वक्त एक ही साड़ी खरीदी जाती, और तीनों पहनती, तीनों के पास मिलाकर शायद छः-सात साड़ियां भी न थी और वे भी फटी पुरानी। पर वे अपनी लाज बचाए हुए थी। और स्त्री के पास लाज हो, और कुछ भी न हो तो कम से कम वह आराम से सो तो पाती है, एक दिन उनका वह आराम भी लुट गया।

बरसात के दिन थे, और वर्षा के नाम पर बूंदा-बांदी भी न होती थी। किसान बरसा की आस लगाए, मुंह बाए बैठे थे। वर्षा देर से आई भी तो क्या आई ? बरबादी तो जाएगी नही ? अकाल था।

कमला के पिता जो अपने खेत खोकर दूसरो के खेतों मे काम कर लेते थे, उस समय बेकार थे। काम होता भी तो वह कितना कर पाते थे, इतनी ताकत नही कि धूप पानी में, खड़े-खड़े मशक्कत कर सकें। काम हो या न हो, ताकत हो या न हो, आदतें तो पालनी होती ही हैं, मौत भी आती है, तो उन्ही आदतों की पटरी पर ही आती है।

कमला के पिता की पीने की बुरी आदत थी। उनका कहना था कि गिरती गृहस्थी की वजह से वह लत उनको लगी थी। उनकी गृहस्थी भी कभी सपाट जमीन पर चार पहियो पर तेजी से चली थी। चलती जाती, और बिना जमीन

जायदाद के भी चलती जाती, यदि वह तीन लड़कियों के बाप न बनते, और वे सयानी भी न होती, और उनके विवाह का समय न आता।

वे दिन-रात लडकियों की शादी करने कराने के लिए घूमे, जाने कितनों के यहाँ अलख जगाई, कितनी ही बातें सुननी पड़ीं, कितने ताने तदमे बर्दाश्त करने पड़े, मिलने मिलाने के लिए कितना रुपया फूंकना पड़ा। पढ़ा-लिखा कर भी यदि लडकियों के बाप को इस तरह मारा-मारा फिरना पड़ जाए, तो पढ़ाया-लिखाया ही क्यों जाए?

कमला के दादा काफी धनी थे, पर जन कल्याण के लिए अपनी सम्पत्ति इस तरह लगाई थी, कि उनके लडके तक पहुँचते-पहुँचते वह नही के बराबर रह गई थी। जो कुछ बची थी, उसी पर कमला के पिता गुजारा करते रहे।

एक समय था कि सम्पत्ति थी, और उस पर कर्ज था, फिर वह समय आया कि कर्ज रह गया, और सम्पत्ति चली गई। जब लडकियाँ सयानी हुईं तो कर्ज पैदा करना भी मुश्किल हो गया, मकान की इधर-उधर की चीजें बेच-बाच कर घूमने फिरने के लिए पैसे निकाले।

फिर कमला के पिता इतने निराश, इतने दुखी कि न गृहस्थी छोडते बनती थी, न निभाते ही। वे भी घर बार छोडकर संन्यासी हो सकते थे, संन्यासी मोक्ष पाता हो या न पाता हो, पर पीछे घरवालों के लिए विनाश छोड जाता है। उन्होंने शायद सोचा हो कि सन्यासी होने से तो अच्छा शराबी होना ही था।

उनके गम गए हों, या न गए हों, पर शराब अपने साथ इतने गम लायी कि कमला और उसकी बहिनो के लिए घर मे रहना ही मुश्किल हो गया। ग़नीमत थी कि उसे नौकरी मिल गई थी। वह गांव छोडकर चली आई और जो गाँव मे होना था, वह उस छोटे नगर मे हो गया।

वह मनहूस रात थी। बदली थी, तारे चान्द सब गायब। घुप्प अन्धेरा। गली की रोशनी भी टिमटिमा रही थी। उसे भी अन्धेरा निगले हुए था। भयावनी रात झींगुरो की आवाज़ सारा शहर करीब-करीब अपने मकानो मे बन्द था, सिवाय उन लोगों के, जो उनके आउट हाऊस की चार दीवारी के पिछवाडे मे झोपडियों मे रहा करते थे। न घर मे रोशनी, न बाहर, बरसा के पहले की घुटन। वे बाहर थे हो हल्ला करके जैसे बादलों से कह रहे हो। "बरसो, मगर हमे सिर बचाने के लिए छप्पर तो कहीं दे दो।"

दिन बदल रहे। जहाँ लोग बंधे डगरों की तरह झोपड़ियों में अपनी सारी ज़िन्दगी काट देते थे, वहाँ अब उनमें जाने कहाँ से हौंसला आ गया था, और वे अपनी हरकतों से कहने लगते थे, "गरीबी हो तो हो, हमें भी वे सब अधिकार हैं, जो किसी और के हैं।" वे गूँगे लोग, जो सब सह लेते थे और चूं तक न करते थे, अब ढीट हो गए थे, और अपनी बराबरी की घोषणा करते से लगते थे। खैर। सिवाय उनके और कोई न था।

बदली हो या बारिश, बिजली हो या न हो, भोजन हो या न हो, कमला देरी से ही घर पहुँचती थी। वह दिन भर पढ़ाती, शाम को ट्यूशन के लिए जाती। घर पहुँचते-पहुँचते काफी देर हो जाती। पर ये पिछवाड़े के लोग उसकी इस तरह रखवाली करते, जैसे वह भी उनके समाज की हो। उनमें उसके लिए सहानुभूति थी, सम्मान था। अगर वे वहाँ न होते तो उन तीन बहिनों की ज़िन्दगी और भी दूभर हो जाती। उनको देखकर वे तसल्ली कर लेतीं—ये भी हैं, जिनकी हालत हमारी हालत से बत्तर है। उनकी ज़िंदगी से जूझने के लिए अजीब ढाढ़स मिलता। वे बदल रहे हों, और बेकाबू हो रहे हों, पर उनका व्यवहार खराब न था, मगर, उस दिन वह घटना क्या घटी कि वे भी बदल गए। जब रखवाले ही खाने को उतारू हो जायें, कोई कहीं जाए भी तो कैसे जाए? क्या करे?

कमला बंगले का फाटक खोलने को थी कि फाटक के पास अन्धेरे में एक आदमी बैठा था, करीब-करीब नंग बदन बड़बड़ा रहा था—"हूँ, तुम इतनी देर से आ रही हो। मैं यहीं देख रहा था।—ऊह"—वे गुर्राये। कमला आवाज पहचान गई। वे उसके पिता थे।

"अन्दर आइये न," उसने उनसे कहा।

"अन्दर ही जाना था, तो यहाँ क्यों बैठता? मुझे नहीं जाना है अन्दर बन्दर। इस तरह की रात कहीं घर में काटी जाती है।" बातें झटके साथ आ रही थीं, और वे आगे पीछे झूम रहे थे। नशे में थे, और नशा चाहते थे।

"पर यहाँ—?" कमला घबराई। क्योंकि वह जानती थी कि उसके पिता नशे में, जानवर से भी बत्तर हो जाते थे।

"पैसे दो, दो, हम कहते हैं, दो।" उसके पिता रास्ता रोककर खड़े हो गए।

"पैसा नहीं है, मेरे पास, मैंने गाँव भेज तो दिया था।"

"नहीं है, तुम्हारे पास, झूठ, दो, नहीं तो—"

कमला ने हाथ छुटाकर जाना चाहा पर कहाँ जाती, उसके पिता उसका हाथ पकड़कर खड़े हो गए। वह चिल्ला भी नहीं सकती थी। उस समय इत्तफाक से दो तीन लोग पिछवाड़े की ओर गए उन्होंने कमला को देखा, वे घूरते-घूरते चले गए। कमला झेंप-सी गई। "पैसा नहीं है, तो आओ मेरे साथ, उस दुकानदार से लेकर दो, जो तुम्हें उधार देता है, पास ही है, चलो।" उनके पिता ने कहा।

कमला कर ही क्या सकती थी, वह उनके साथ चलने लगी। उन लोगों ने, फिर उन दोनों को एक साथ बड़ी सड़क की ओर जाते देखा। एकाएक अट्टहास हुआ। फिर फुसफुसाहट। शायद वे भी नशे में थे।

कमला डर गई। पिता से जैसे-तैसे छुटकारा पाया और वह बंगले के पास के फाटक के पास जाकर सिसकने लगी। वह आँखें पोंछकर जब अपनी झोपड़ी में पहुँची, तो दोनों बहिनें खाली पेट सो चुकी थीं। उसने सोने की कोशिश की, लेकिन नींद गायब थी। पिता ही उसकी आँखों में समाये हुए थे। वे यहाँ क्यों आए? क्यों इस समय आए? वे यहाँ न आएँ—इसलिए तो उनको गाँव पैसे भेजती हूँ। और अब? कहीं माँ से तो अनबन नहीं हो गई है, कहीं, माँ को—कुछ कर करा तो नहीं दिया है? पियक्कड़ जो न करे सो कम। माँ ही कहीं…कौन जाने? एक ही तो सहारा था, क्या वह भी जाता रहेगा? माँ उनको यहाँ आने न देती थी, वे जानती थीं कि ये हमें सतायेंगे, गाँव में रहने न दिया, और अब कस्बे में भी न रहने देंगे? उधार मिल जाता है, पर कब तक? और क्या इस वाहियात काम के लिए? अगर दुकानवाला भला आदमी न होता, डर डरा न गया होता, तो शायद देता भी न—" पियक्कड़ को नशा चाहिए, चाहे, और बरबाद होते हों तो अपनी बला से बरबाद हों। पिता है—तो—" कितनी ही बातें आँखों के सामने गुज़र गईं। फिर वह समय भी याद आया जब उनके पिता ने अपना प्यार दिया था, प्रेम से उनको पाला पोसा था और अब?—कमला को रोना आ गया। कब तक रोती? कितना रोती? आसमान एकाएक फूट-सा पड़ा, और मूसलाधार बारिश होने लगी। छप्पर चूने लगा। नीचे ज़मीन पर दरवाज़ों से पानी आने लगा। उसकी बहिनें उठ गईं। वे तीनों एक घेरे में बैठ गईं त्रस्त-सी। इतना अन्धेरा कि वे एक-दूसरे को देख भी न पाती थीं—बाहर बारिश, और उनके मन में आँधी।

कमला उनसे कह भी न पायी कि पिता जी आए थे, और हो हल्ला करके, उसे ले गए थे, और उधार के पैसे से कही नशा कर रहे थे। कहीं किसी नाले वाले में तो नहीं गिर गए ? सड़कों पर कीचड है, फिसलनदार हैं, ऊपर से नशा। कहां हैं वे ? होंगे कहीं। कौन कब तक उनकी फिक्र करे, जो कटी पतंग की तरह कांटो के ढेर मे पड़े हों।" कमला सोचती।

वे तीनों सो नही पाईं। पौ फटी। एक और दिन प्रारम्भ हुआ। पर कमला के लिए पिछली रात ही जारी थी। वह बहुत चिन्तित थी, जाने कितनी और आशकायें थीं उसके मन में। आफतो के बीच एक ऐसी आफत आ पडी थी, जिसकी उसने कभी आशका न की थी। वह उस दिन स्कूल मे पढाने न जा सकी। शायद चली भी जाती, अगर उस समय उसके पिता वहाँ न आते मैले, गीले, कपड़ों मे भी, गीली भीगी ज़मीन पर सो न जाते।

पिछवाड़े मे से वे लोग उचक-उचक कर देख रहे थे। कुछ उत्सुकता मे, कुछ शक मे। कमला उनसे कैसे कहे कि उस हालत मे वे उसके पिता थे। उन्हे किसी ने पूछा भी तो नही। सब देखते, और सिर हिलाकर चले जाते।

यही घटना थी। पियक्कड के जीवन मे तो यह निहायत मामूली घटना थी, पर इस घटना के बाद, एक जानलेवा घटना क्रम चल पड़ा उन तीनों सयानी लड़कियों के लिए। पिता क्या आये कि उन पर बला ढा गए।

पिता तो अगले दिन शाम घर चले गए। लेकिन पिछवाड़े के लोगो का हल्ला बढ गया। कोई चारदिवारी के पास आकर भद्दी बातें करता तो कोई भद्दे इशारे। कमला को ताज्जुब कि कैसे उन लोगों मे इतनी हिमाकत आ गई थी।

उसको अपने काम पर तो जाना ही था। काम इतना और ऐसा कि कभी वह अन्धेरे से पहले घर पहुँच ही न पाती थी। और अब जब घर आती थी, तो हाथ जान लेकर आती थी कांपती-कांपती। कभी कोई रास्ता रोकता तो कभी कोई और। पर वे सब वे ही थे, जिन्होंने उसको उस दिन रात को अपने पिता के साथ जाते देखा था।

"आओ, हमारे पास भी पैसे है—" उनमे से एक ने उसका हाथ पकडने की कोशिश की। कमला ने चिल्लाना चाहा, पर एक बार क्या चिल्लाऊँगी कि जिन्दगी भर के लिए बदनाम हो जाऊँगी, उसने सोचा। वही मध्यमवर्गीय भय।

"तुम शायद पियक्कडों के पास ही आती हो—" देखो, मैंने भी पी रखी

है, और देखो--" उस आदमी ने अपनी ढीली तहमद नीचे छोड़ दी। कमला के मुख से चीख निकल पड़ी। और वह तेजी से अपने घर की ओर दौड़ी।

यह तो शुरूआत थी। यह सलूक उसके साथ ही नहीं किया जा रहा था, बल्कि उसकी बहिनों के साथ भी। वे तंग थीं। उनकी नींद हराम थी। कहाँ जाती? किससे कहती? तीन थीं, मगर थी तो स्त्रियाँ, और कैसे उन भड़के हुए भेड़ियों से मुकाबला करें, कौन उनको क्या समझाए?

उन लोगों ने कमला को एक पियक्कड़ के साथ क्या देख लिया था कि वे उसे गिरी हुई समझने लगे, इसलिए पैसे पर बिकने वाली औरत। अगर यह धारणा बन जाय, तो भेड़ें भी इन बातों में भेड़िये बन जाते हैं।

बुरी आफत थी। कोई मददगार भी नहीं। गाँव वापिस जा नहीं सकती थी, और बसेरा ढूंढ नही सकती थी। तीनों ही क्वारी। विवाह मुश्किल, अगर इन लोगों का यही रवैया रहा तो यह असम्भव हो जायेगा। क्या किया जाय?

अगर पिता को बुला लिया गया तो? गाँव में जो मकान है, उसकी देख-भाल कौन करेगा? केवल मकान ही तो रह गया था। और यह सब बवंडर उन्हीं की वजह से तो हुआ था। पैसे उन्होंने पीने में खर्च दिए, तो हम खायेंगे क्या? माँ को बुलाना बेकार। वह पिता को छोड़कर आयेंगी नहीं, फिर आकर करेंगी भी क्या? तीन लड़कियों के साथ एक और स्त्री?

आखिर तय हुआ कि माँ गाँव में कुछ दिन रहे और पिता उनके साथ कस्बे में, कोई आदमी हो तो उनकी हिफाजत के लिए। वे आ गए। उनके साथ रहने लगे। आदत पीने की हो तो, तो अपने ही बेगाने हो जाते हैं। बोतल ही पियक्कड़ की साथी है, सर्वस्व है।

किन्तु लोगों को विश्वास न हो कि वे उनके पिता हैं, उनकी हरकतें भी कुछ ऐसी वैसी ही थी। उनका यह विश्वास हो गया कि इन लड़कियों ने अपने 'कारोबार' के लिए एक आदमी रख लिया था। कमला के लिए पिता का होना और न होना बराबर था।

छुट्टी के दिन आए, कमला की दोनों बहिनें गाँव चली गई थी, और वह वहीं घर में रह गई थी। घर छोड़ कर जाती तो जो दो-चार चीज़ें वहाँ थी, उन्हें उनके पिता कबाड़ी के यहाँ बेच देते।

शाम होती थी कि नहीं, कि आदतन, कमला के पिता के पैर शराब की

खच्चर वाला

जब हवा थम जाती, कुछ घुटन-सी होती, घण्टियों की आवाज न सुनाई देती, तो अहमद उठ बैठता, और धीमे-धीमे डग भरता ऊपर की झोपड़ी मे जाता।

वहाँ दरवाजे पर कितनी ही घंटियाँ बधी थी। वे कभी उसके खच्चरो के गलो में बधती थी। वे जब बजती थी तो ऐसा लगता था जैसे कि खच्चरों का कारवाँ धीमे-धीमे पहाडो पर चला जा रहा हो।

घंटियाँ तो कई थी, पर खच्चर एक ही रह गया था। और वह भी दो-तीन महीने का मेहमान था। बहुत से खच्चर थे, एक-एक करके वे या तो मर मरा गए नहीं तो बिक बिका गए। और उनका मालिक अहमद उनकी याद में कुछ-कुछ उन्ही की तरह जिन्दगी बिता रहा था। खच्चर भी अकेला हो तो अक्सर भटक जाता है।

काश, अहमद के भी कोई नकेल होती और उसे भी कोई पूछ मरोड़ कर, दुनिया भर की गालियाँ देता, हांकता तो बात शायद इतनी दूर आती ही न। और वह भी आज चंगा होता और अपने को यूँ बन्द घुंटा-सा मजबूर न पाता।

अहमद को कभी-कभी लगता था कि वे सब गालियाँ जो उसने कभी प्रेम में अपने खच्चरो को दी थी, अब खच्चर ही नही सारी दुनिया उसे दे रही थी। हर कोई उसे बुरा-भला कहता, वह हर किसी के लिए भार। उसका अपना लडका मोहम्मद ही शायद उसको उतना भी न चाहता था जितना कि वह खुद खच्चरों को चाहता था। दुनिया बदल गई है, जमाना बदल गया है, और आदमी जानवर से भी बत्तर बन गया है, जब कभी अहमद सोच पाता तो यह सोचता।

वह कोई खास रईस न था, न खास कामकाजी या कारोबार वाला ही। मगर काम था और काम की मस्ती थी। अब दोनो ही नही है। कई खच्चर थे, पहाड़ों में वे एक जगह से दूसरी जगह जाते, काफी कुछ किराया मिलता और उस पर

गुज़ारा मजे मे चल जाता।

अब उन बीहड़ ऊँची जगहों पर भी तो लारियाँ खटखटातीं पहुँचती हैं, जहाँ पहले खच्चर मुश्किल से जा पाते थे। और आधे समय में। पहाड़ बदल गए हैं, सारा नक्शा ही बदल गया है। खच्चरो के लिए बस खड्ड ही रह गए है।

काश, अहमद भी बदल पाता। वह न बदल सका, न वह टूटा ही। ऐसा लगता था कि उसकी संगडी पगडंडी पर पहाड़ ही ढह गया हो, और रास्ते का निशान भी न रह गया हो। रोज़ी-रोटी का रास्ता बन्द। हर तरह की तंगी, और औ······?

जो कुछ खच्चरो से उसने कभी कमाया था वह कभी का खत्म हो चुका था। एक खच्चरों वाला झोपडा रह गया है, और एक खुद के रहने का, जहाँ गरीबी ग़मी, और गर्दिश सब बसेरा किए हुए है।

इतना सब होने के बाद, अगर वह इस उम्र मे कुछ पागल हो गया है तो उससे हमदर्दी होनी चाहिए थी। लेकिन किसी ने हमदर्दी भी तो नही दिखाई। अगर वह कभी-कभी अमावस मे, या चान्दनी मे कुछ कर बैठता है तो क्यो लोग उसे जेल भिजवाने की कोशिश करते है, या पागलखाने पहुँचाने के लिए इधर-उधर की चुगली करते हैं?

हवा न थी। घटियाँ खामोश थी, वह ऊपर, झोपडी के पास गया। फिर उस पेड के पास जिसके नीचे चबूतरा था और चबूतरे से सटी पत्थरों की मुँडेर। दिन मे यहाँ से दूर तक घाटी देखी जा सकती थी। अन्धेरे मे अहमद जान सकता था कि कौन जगह कहाँ थी, जवानी मे वह इतनी बार इस तरह यहाँ वहाँ घूमा था कि वह घाटी का चप्पा-चप्पा उसी तरह जानता था जिस तरह एक किसान अपनी ज़मीन जानता है। पूरे चालीस बरस, एक कोल्हू के बैल की तरह वह वहाँ घूमा था, अब वह कुछ सठिया गया था।

वह वहाँ बैठा रहा। रात का अन्धेरा गहराता जाता था। जाने वह क्या सोच रहा था। जाने वह सोच पाता भी था कि नही, पर वह एक जगह आराम से बैठ भी न पाता था, अजीब-सी बेचैनी, झुँझलाहट।

थोड़ी देर बाद, अन्धेरे को चीरती-सी एक लॉरी पहाड़ के मोड़ पर चढाई पर गुरगुराती चली आ रही थी। उस रास्ते पर लॉरियो का आना-जाना कुछ कम हो गया था, और जो आती भी तो सम्भल कर आती थी। हर कोई इस तरह

सम्भल कर आता जैसे कच्चे पहाड के पास से, संकड़ी सड़क पर खड्ड से सगा सटा जा रहा हो।

अहमद छुप कर मुंडेर के पीछे बैठ गया। और इस तरह लम्बी-लम्बी साँसें ले रहा था जैसे किसी शिकार की ताक में हो। वह पत्थर बटोरने लगा। सिवाय मुंडेर के पत्थरों के वहां पत्थर भी तो नहीं रह गये थे।

लॉरी जब नीचे सड़क पर आई तो अहमद ने मुंडेर से दो-चार बड़े-बड़ पत्थर उठाए और नीचे लॉरी पर फेंके और जोर से ठहाका करके हँसा।

"अबे जाओ, उसी जगह जहाँ मेरे खच्चर गए हैं। खच्चरों की डगर पर तुम्हारा क्या काम? अरे तेरी ऐसी तैसी, अबे, ओ लॉरी वाले जा जहन्नम में।" अहमद चिल्लाता और ज़ोर से हँसता।

लॉरी आगे चली गई, और अहमद अन्धेरे मे उसी ओर पत्थर फेंकता रहा। वह वहीं पेड के नीचे इस तरह डकराता बैठा रहा कि और लॉरियां आएँ और वह उन पर पत्थर फेंके। पत्थर फेंकने से उसे कुछ-कुछ वही आनन्द आता था जो कभी घंटियों की आवाजें सुनते-सुनते खच्चरों के पीछे चलते आता था।

थोड़ी देर बाद एक और लॉरी आई। इस बार जब वह मोड़ पर ही थी कि ड्राइवर ने लाइट ऑफ कर दी, अन्दर भी रोशनी न थी। ड्राइवर मुंडेर पर बैठे अहमद को न देख सका। वह एक बार भुगत चुका था। इसलिए लुका-छुपा वहाँ से खिसक जाना चाहता था। पर लॉरी की गुरगुराहट अहमद के कानों में पड़ी, और उसने दो-चार पत्थर लुढ़का दिए, और फिर ज़ोर से हँस पड़ा।

लॉरी आगे जाकर चढ़ाई पर मुडी, कुछ दूर गई, कि एक टायर बर्स्ट हुआ। टायर के फटने की आवाज भी अहमद को सुनाई पडी। वह उसके बाद, वहाँ न बैठा रह सका। वह अपनी झोपड़ी के पास गया, और ऊपर की झोपड़ी की ओर देखने लगा जहाँ खच्चर बैठा था, और दरवाजे पर मरे खच्चरों की घंटियां बंधी थीं। हवा बन्द थी, और घंटियां खामोश। हवा आने का रास्ता न था, दरवाजे के ठीक सामने दीवार थी। और जब हवा तेज होती तभी वह भँवराती भटकती अन्दर आती, और घंटियां खनखनाती।

उसके लडके मोहम्मद ने उसको कई बार समझाया कि ऐसी हरकतें न किया करो। एक बार की बात हो तो कहा भी जाय, यहाँ तो महीने में किसी का टायर फटता, तो किसी के चोट आती, तो किसी पर थूक गिरता। कहा तो तब जाय

जब कहा सुना जाय उसके पिता का मर्ज उसके बस का न था।

लॉरी ड्राइवर मोहम्मद के पास गया। उसे खूब डाँटा-फटकारा।

"अबे फिर यह हुआ खच्चर गए तो गए, यह दुकान भी लुढ़का दूँगा खड्ड में, समझे।"

मोहम्मद जान सकता था कि उस ड्राइवर पर क्या बीती होगी।

"अबे, बाप को काबू मे न रख सको तो लगा दो जजीरें, और बाँध दो खूँटों से उसे घर में। हमे वह ख्वाहमख्वाह क्यों तग करता है ? चाहे जितना सम्भल कर चलाओ, पर जाने कम्बख्त को कैसे मालूम हो जाता है कि गाड़ी आ रही है।"

मोहम्मद यह सुनने का आदी हो गया था। ये ही बातें हर कोई करीब-करीब इसी तरह कई बार कह पाता था। पर इस ड्राइवर के ताव कुछ और थे। वह घबराता था।

"अबे तुम दोनो मे कही साझा तो नही है—वह टायर फोड़े और तुम उनकी मरम्मत करो। लग तो ऐसा ही रहा है। खबरदार! लेने के देने पड़ जायेंगे।"

"जी नही, बिल्कुल नही, हम बरबाद हो जायेंगे। हम गरीब है, आप लोगों के भरोसे ही तो हम भी जी रहे हैं। ऐसा न सोचिये। मैं उनको घर से नहीं निकलने दूँगा।" मोहम्मद ने मुस्कराकर ड्राइवर को मनाना चाहा और उसके सामने गरमा गरम चाय की प्याली रख दी।

मोहम्मद ने अपने घर से थोडी दूर, पहाड़ी के परली तरफ मोड़ के बाद, एक चाय की दुकान खोल रखी थी, और बगल में ही एक छोटे से शेड में वह लॉरियों की छोटी-मोटी मरम्मत कर देता था। टायर वगैरा ठीक करता था। खच्चर क्या गए कि उसने इस तरह अपनी रोजी बनानी शुरू कर दी थी।

मोहम्मद ने ड्राइवर का टायर ठीक किया और दुकान अपने भाई के जिम्मे छोड़ पहाड़ी पर चढ़ कर गया, और घर मे उतरने से पहले दरवाजे पर टंगी घटियों को जोर से बजाता गया।

अहमद जब पगला गया और घंटियों की आवाज के लिए तरस गया तो उसके लड़के ने, उनको दरवाजे पर बाँध दिया। जाने यह भी क्या पागलपन था कि वह घंटियाँ सुनता, और पैर समेट कर सो जाता। और जब घंटियाँ नहीं बजती तो उठ बैठता, और लड़के की नजर बचाकर उत्पात मचाता।

मोहम्मद भागा-भागा आया और दरवाजे पर खड़ा हो गया।

"तुम्हारा इरादा क्या है ? हमें क्या जीने नहीं दोगे ? हमें भी क्या खच्चरों की तरह मार दोगे, भूखा-प्यासा ?"

"मैंने कब खच्चरों को मारा है। मारा है उन्हें इन लॉरियों वालों ने, उनके मालिकों ने। हमें बिल्कुल कंगाल कर दिया, दाना-पानी खरीदने के लिए भी पैसे न छोड़े। हमने कब मारे खच्चर, क्यों मारेंगे भला, हमें क्या कुत्ते ने काटा है ?" अहमद चिल्लाया।

"तुम इसी तरह पत्थर फेंकते रहे तो हमें भी लोग लंगड़ा कर देंगे, टुंडा बना देंगे, खाने के लिए दाल-भात भी नहीं मिलेगा, आखिर···।" मोहम्मद कह ही रहा था कि अहमद अपनी खाट पर लेट गया।

हवा चल पड़ी थी, और झोंके के साथ घंटियाँ बज रही थी। वह अपनी खच्चरों की दुनियाँ में खो गया था, लॉरियों के शोर से दूर।

और अहमद ने जाकर दरवाजे के सामने की पुरानी दीवार में एक बड़ा-सा छेद कर दिया, ताकि हवा आती रहे और घंटियाँ हमेशा बजती रहें। शायद उसे न मालूम था कि घंटियाँ तो बजेंगी, पर खच्चर सर्दी में ऐंठ कर ठण्डा हो जाएगा। शायद उसको इसकी फिक्र न थी। वह कोई गन्दा फिल्मी गाना गुन-गुनाता अपनी दुकान की ओर चला गया।

० ०

यतीम

कहीं कोई छोटी-सी बात होती है, या कोई मामूली-सा अनुभव होता है कि सारा जीवन एक साँचे में ढल-सा जाता है। जो अहमद को जानते थे उनका तो कम से कम यही कहना था। पर उसकी पत्नी थी कि जो यह न समझ पाती थी, और दिन-रात उसको दुत्कारती थी। बुरा-भला कहती थी।

अहमद एक तो स्वभाव से लाचार, और अगर रोज गालियाँ सुननी पड़ जायें, तो सुनने की भी आदत हो जाती है। वह चिल्ला रही होती और अहमद मुस्कराता-मुस्कराता बैठा रहता। उसकी पत्नी उसको मुस्कराता देख और चिढती और चिल्लाती। और अहमद चुप बैठा रहता।

"मैं क्या पागल हूँ, पागल तो तुम हो। दिन-रात कमाते हो, और घर ऐसा चलाते हो, जैसे कोई यतीम खाना हो, कहाँ जाता है पैसा?" उसकी पत्नी चीखती, और अहमद बत्तीसी खोल कर खिसिया देता।

वह क्या कहता? एक-दो बार कहा भी कि फलो का व्यापार ही ऐसा है कि कभी मौसम मे इतना आ जाता है कि सड़ने लगता है, और लगी पूँजी भी बेकार जाती है। कोई खास फायदा नही होता है। घर बार चलता है, यही काफी है।"

लेकिन उसकी पत्नी को यकीन न होता। उसको सन्देह था कि उसने कहीं कोई और बीवी पाल रखी थी। उसने अपना सन्देह पति से छुपा भी न रखा था। अहमद क्या करता था, यह देखने वह भी दिन मे, जैसे लोग मस्जिद जाते है, दो-तीन मर्तबा दुकान पर चली आती, हर बार उसे डाँट-डपटकर जाती।

अहमद कुछ न कहता। क्या कहता? उसकी सुनने की आदत हो गई थी और आस-पास के लोगो की भी। पत्नी क्या शोर करती कि पाँच-दस लोग जमा हो जाते और फलो की बिक्री हो जाती। यह करीब-करीब रोज़ होता था।

तीन बच्चो की माँ, चालीस से ऊपर की। शुरु-शुरु में अहमद जरूर खीला था, पर अब वह बिल्कुल बुरा न मानता था। माने भी क्यो, क्योंकि वह नही करता था, जो वह करना चाहता था।

हर किसी की अपनी-अपनी खब्त होती है, सनक होती है। हाँ तो वह बात कौन-सी थी, जिससे उसकी पत्नी इतनी नाखुश थी ? क्या सचमुच वह अपना रुपया रंडियो की गली मे लुटा देता था ? या नशे में खराब करता था ? या कुछ और करता था ?

नही ऐसी कोई बात न थी। वह बडा सीधा बेदाग़ आदमी था। कोई ऐब न था। दिल का अच्छा, निरा गौ आदमी। कमाई कुछ भी हो, सेहत इतनी अच्छी न थी कि दो-दो बीवियाँ पाले। और उनकी इल्लतों को भूलने के लिये नशा करे।

मस्जिद के पास उसकी फलों की दुकान थी। व्यापार खराब न था। मौसम मे फलो की आडत भी कर लेता था। फायदा हो या नुकसान, वह घर गिन-गिन कर ही पैसा देता, हिसाब से। घर मे खास तंगी तो न थी पर कोई खास खुशहाली भी न थी। उसकी पत्नी उसे क्या नही कहती थी,—कजूस, काईयाँ, कमीना, खुदगर्ज, बेवकूफ, बुड बुक।

अगर घर मे उसे गालियाँ सुननी पडती थी, तो कई ऐसे भी जो उसकी खुशहाली के लिये खुदा से दुआ माँगते थे। जो जुम्मे के दिन उसकी राह देखते थे। इस बारे मे अहमद कभी कुछ न कहता था, बहुत छोटी-सी बात थी। छोटे आदमी की। अपने मुँह कहे भी तो कैसे कहे ?

वह पत्नी के लिये भले ही पहले दर्जे का कंजूस हो, पर कोई ऐसा फकीर न था, भिखारी न था, जो उसकी दुकान से पत्नी के न होने पर, खाली हाथ जाता हो। मस्जिद में कुछ होता, मन्दिर मे कुछ होता, मोहल्ले मे कभी जशन जलस होता तो वह भरसक पैसा देता था। वह सब के लिये अहमद भैय्या था।

उसको वे दिन न भूले थे जब लोग थोड़ा-सा एहसान करते थे, और अपनी ही तारीफ करते आसमान उठा देते थे। वह वह न करना चाहता था जिसे वह औरो मे बुरा समझता आया था।

वह भी अपनी बीवी-बच्चो को औरों की तरह खुश रखता, अपनी सारी कमाई उन पर खर्चता, या उनके लिये जमा करता, अगर उसकी जिन्दगी भी

ुशी में शुरु होती और सीधी पटरी पर चलती। दिन रात की मेहनत मशक्कत, इधर-उधर भटकना, दुनिया भर के झंझट, दिक्कतें, कही कोई राहत नही।

वह न चाहता था कि हर कोई बच्चा उन तकलीफों मे से गुजरे, जिनसे वह गुजरा था। जो उसने भुगता था, वह न चाहता था कि और भी कोई भुगते। किसी ने भी तो कोई खास दया नही दिखाई। वह भी बेदिल हो सकता था। पर नही हुआ। वह भी औरो की तरह, पाई-पाई जोड सकता था, और ईंट-ईंट करके बड़े मकान बना सकता था। पर उसने कुछ भी तो नहीं किया। क्यो नही किया?

वह अभी तीन साल का भी न था कि माता गुजर गईं। पिता की आमदनी का कोई ठीक-सा रास्ता नही। वे रंडियो की गली घूमते थे। कभी किसी कोठे मे, तो कभी किसी और कोठे में। वह जवानी का सौदा करते थे। ऊटपटाँग काम। वे घर-गृहस्थी क्या चलाते और छोटे बच्चे की क्या परवरिश करते? शायद अहमद भी उस छोटी उम्र मे ही, इधर-उधर के काम करके अपना पेट भर लेता, अगर उसके पिता भी एक एक्सिडेण्ट मे न गुजर जाते।

फिर अहमद लावारिस की तरह भटकता रहा। कभी किसी ने कुछ दे दिया तो खा लिया। कभी बिना खाये, पानी पीकर पेट भर लिया। कभी कही वराडे में सो गया, तो कभी गली में ही। अब भी जब कभी अहमद को वे दिन याद आते है तो वह सिहर उठता है। तोबा, तोबा, ऐसी किसी पर न गुजरे।

स्कूल के एक मुन्शी ने उसको एक यतीमखाने मे भरती करवा दिया। वहाँ रहने को जगह मिली ही थी, पाच-दस लोगों का साथ भी मिला था। पर माहौल ऐसा कि हमेशा घुटा-घुटा-सा रहता। हर चीज के लिये मोहताज। खाना मिलता भी तो बिना गालियो के न मिलता। बच्चा ही तो था, कभी यह खाना चाहता तो कभी वह। पर सा कुछ भी न पाता। चीज मिले या न मिले, पर चाहत तो बनी रहती है।

कभी किसी दरियादिल आदमी के घर शादी होती, या कोई तीज-त्योहार आता, तो खाने के लिये मिठाई, फल वगैरह यतीमखाने मे भी भेजे जाते। वरना सूखी रोटी और दाल भी कभी-कभी न मिल पाती थी।

वही वह कुछ पढ़-लिख भी जाता। यदि यतीमखाना ही बन्द नही कर दिया जाता। सुना गया कि कमेटी वालो ने उसका रुपया गबन कर दिया था। जिस जगह यतीमखाने का झोंपड़ा था, वह जगह खरीद ली गई थी। अब वहां पांच

दस दुकानें हैं, पास में ही मंडी है, और कमेटी के वे मेम्बर, जिन्होंने रुपया हथिया लिया था, शहर के रईसों में एक हैं।

सात साल शरण मिली थी, अहमद के लिये यही काफी था। नहीं तो काला अक्षर भैंस बराबर, बिना मालिक के मवेशियों की तरह मारा-मारा फिरता। वह थोड़ा बहुत पढ़-लिख गया था।

वह मंडी में काम करने लगा। फलों की आड़त की दुकान वाले काम दे देते थे। रात को दुकान की चौकीदारी करता। कामचोर था नहीं। ईमानदार आदमी था। गुजारा हो जाता था। देखते-देखते वह दुकानदारी जान गया। कुछ अपना पैसा जोड़ लिया था और कुछ दुकानदारों ने उधार दे दिया था। वह फल लेकर गली-गली फेरियां लगाता। वह बड़ा होते-होते अपने पैरों पर खड़ा हो गया।

किस्मत ने साथ दिया, और वह खुद दुकानवाला हो गया। और जब आमदनी का एक रास्ता बन गया तो उसने शादी कर ली, और अपना घरबार भी बना लिया।

कभी फलों के लिये तरसा था, अब दो-तीन साल में इतने फल खा लिये थे कि फल देखकर लार न टपकती थी। पर उन गरीबों का ख्याल आता, जिनको कभी फल न मिलते थे और जो फलों के लिये ललचाकर रह जाते थे।

अहमद को अपने बुरे दिन न भूले थे। वह न चाहता था कि किसी बच्चे पर वह गुज़रे जो उस पर गुज़री थी। फिर उसकी हस्ती ही कितनी थी? क्या करता अगर चन्दा इकट्ठा भी करता तो कितना करता और एक छोटे मोटे फल के व्यापारी को, जिसकी कोई हैसियत न थी, कोई देता भी तो क्यों देता? कोई पैसा यूँ ही नहीं दे देता है।

उसने अपना पैसा ही जमा करके, दुकान से कोई दो-ढाई मील की दूरी पर, एक कब्रिस्तान के पास छोटी जगह खरीदी। दो-चार साल बाद, कुछ और पैसा जमा करके, उसने वहाँ एक झोंपड़ी बनवायी। किसी को इस बारे में नहीं मालूम था। उसने अपनी पत्नी को भी नहीं बताया था। वह चुपचाप अपनी पुरानी मुराद पूरी कर रहा था।

झोंपड़ी में उसने दो-चार लावारिसों के रहने का इन्तज़ाम किया। उनकी देखभाल के लिये एक-दो बेपनाह, बेसहारा औरतें रखीं, कहने वाले इसीलिये ही

कहते थे कि वे उसकी रखैल थी। पर खुदा जानता था कि अहमद कितना पाक आदमी था। वह शायद इस बारे में खुद कहता भी, अगर इसका लेकर घर में जलजला आने का उसे डर न होता।

अहमद उनके लिये खाने-पीने की चीजें खरीदता। कभी-कभी इधर-उधर से दो-चार जान-पहचान के दुकानदारों से बटोरता भी। उसने उन लावारिसों, और यतीमों की परवरिश की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले रखी थी। कुल मिलाकर उस झोंपड़ी में दस एक आदमी थे। उनको पढ़ाने-लिखाने के लिये एक बूढ़ा, गरीब मुल्ला भी उनके साथ रहने लगा था।

फलों की दुकान थी। कितने ही फल सड़ सकते थे। कई बिक नहीं पाते थे। और दुकानदार उनको या तो कम दाम पर बेच देते थे, नहीं तो घर भिजवाते थे। अहमद का अपना अलग तरीका था उनको खपाने का। वह हर जुम्मे दुकान में जितने फल होते, रात दुकान बन्द होने से पहले, यतीमखाने पहुँचा देता, और इस तरह खुश होता जैसे उसने उन्हें खुद खा लिया हो।

हर मंडी में उसके दो-तीन साथी थे जो हर रोज शाम जो कुछ वहाँ दुकानों में बचता था, जिसको फेंका जा सकता था, उनको वे यतीम खाने भिजवा देते। मगर सब चुपचाप। कहीं कोई ढिंढोराबाजी नहीं।

यही नहीं, वह जब-जब जो पैसा उसके पास जमा होता वह वहीं भेज देता। जिस खुदा ने उसको यतीम बनाया था और यतीम बनाकर इतना कुछ दिया था वह उन यतीमों को दे देना चाहता था।

यतीम होना ही उसके जीवन की सबसे बड़ी घटना थी और सबसे छोटी भी। जिसने उसकी जिन्दगी को इस तरह ढाल दिया था कि घरबार वाला होता हुआ भी अपने को यतीम समझता था। उसकी पत्नी यह सब न जानती थी, अगर जानती तो कहती "घर पाला नहीं जाता, शक्ल तो देखो, यतीम पालने निकले हैं।"

और उसकी पत्नी ने अपनी ओर उसके मुँह पर कालिख पोतने की कोई कसर न छोड़ रखी थी। शायद यही वजह थी कि बिना किसी शोहरत के एक निहायत शरीफ की तरह अपनी जिन्दगी अहमद निभाता जाता था और कहने वाले जाने क्या-क्या उसके बारे में कहा करते थे।

उलझा प्रेम

"यह राधा है, मैं इसके बारे मे कहा करता था न ? यह अब हमारे यहाँ ही रहेगी।" सेतुरामन ने अपनी पत्नी कमला से इस तरह कहा जैसे वे अपनी किसी चचेरी बहिन को दो-चार दिन के लिए घर लाए हों। यह सुन कमला को काठ-सा मार गया। वह मूर्ति की तरह निश्चेत-सी खड़ी रही।

राधा मुस्कराती जाती थी। उसके चेहरे पर अजीब-सी चमक थी। उसने झुककर कमला का पारम्परिक रूप से अभिवादन किया। राधा ने चमकीली भडकीली रेशम की साड़ी पहिन रखी थी। काले माथे पर लाल लाल टीका। वेणी मे बडे-बड़े फूल। वह दुल्हन-सी लगती थी।

सेतुरामन राधा को अन्दर के कमरे मे ले गए। और पत्नी से कहा, "हमें कुछ खिलाओ न ?"

"नही, मैं ही ले आती हूँ" राधा रसोई में गई। वहाँ कमला की बडी लडकी जया प्रात. राश तैयार कर रही थी। उसने नवागन्तुक का स्वागत करना भी ठीक न समझा।

कमला रसोई के एक कोने में मैले कपड़ों की गठरी की तरह पडी हुई थी। उनका बडा लड़का जयरामन भी वहाँ आया। वे सब अचम्भे मे थे। अगर आस-मान से कही गाज गिरती है, तो वह गाज उनके लिए राधा ही थी और राधा मुस्कराती-मुस्कराती उनको देखती रही।

"मैं तुम्हारी मौसी हूँ। जानती हो ?" राधा ने अपना परिचय दिया जैसे सेतुरामन ने उसका पूरी तरह परिचय न किया हो।

"कौन-सी मौसी ?" जया ने पूछा।

"अगर तुम्हारी माँ की बहन होती तो तुम उसको क्या कहती ? मैं वही हूँ।" राधा ने अपनी मुस्कराहट को और फैला कर कहा।

"माँ की तो कोई बहिन है नही ?" जयरामन ने कहा।

"इसीलिए तुम्हारे पिता जी उनके लिए एक बहिन लाए हैं।" उसने जयरामन की पीठ थपथपाई। वह जया के पास गई। उसके हाथ से कॉफी के दो कप लिए और कहा, "मैं ले जाऊंगी, कोई बात नही, तुम्हारे पिता बहुत थक गए हैं सारी रात-भर उन्होने एक झपकी भी न ली।"

राधा जब कमरे से निकली तो बच्चे उसको बुरी तरह घूर रहे थे। वे समझ नही पा रहे थे कि वह स्त्री उस घर में क्यों थी, और उसके साथ उनका व्यवहार क्या हो ? उनकी माँ को सवेरे से शाम तक किसी न किसी काम मे लगे रहना पड़ता था और उनकी मदद करने वाला कोई न था। हो सकता है कि ये माँ की मदद करें। बच्चों ने सोचा।

राधा ने उस दिन वे सब काम किए जो कमला रोज़ किया करती थी। बच्चों को स्कूल जाने के लिए तैयार किया। जब वे बाहर जा रहे थे तो उनको हाथ हिला-हिलाकर टाटा करके भेजा भी। पर कमला ने यह सब न देखा।

राधा स्वयं तैयार हुई सेतुरामन भी तैयार हुए। उनको भी काम पर जाना था। "कमला, अब हम जा रहे है, तुम जानती ही हो न, राधा भी हमारे दफ्तर मे काम करती है।" सेतुरामन ने यह इस बेतकल्लुफी से कहा, जिस तरह वह किसी और साथी के बारे में कह रहे हो।

राधा अपनी छाती पर इस तरह हाथ चला रही थी, जैसे यह जानना चाहती हो कि कही वह सोने का 'मंगल सूत्र' पहिनना तो नहीं भूल गई थी।

"मैंने तुमको बताया था न कि मैं इससे शादी करने जा रहा हूँ और हम दोनों की कल रात मन्दिर मे शादी हो गई।" सेतुरामन ने यह बात इस तरह बताई जैसे कोई निहायत मामूली बात हो। कमला ने इस 'विस्फोट' की भी कोई प्रतिक्रिया न दिखाई।

राधा और सेतुरामन मे बहुत दिनों से 'प्रेम' चला आ रहा था। आखिर बदनामी से बचने के लिए उनको शादी करनी ही पड़ी। राधा ही शादी के लिए अधिक उत्सुक और चिन्तित थी। वह तीस से ऊपर की थी। उसकी छः बहिनें थी, और किसी की भी शादी न हुई थी।

सेतुरामन की अच्छी नौकरी थी। संस्कारी, और कर्मकाण्डी ज़रूर लगते थे, पर जब कभी मजे के मौके आते थे, वे उन्हें चूकते न थे। उनकी उम्र चालीस से ऊपर थी।

जब तक सेतुरामन और राधा का प्रेम छुपे-छुपे चलता रहा तो किसी को कोई शिकायत न थी। पर जब उन्होंने शादी कर ली तो सेतुरामन के अफसर दुविधा में पड गए। चूंकि दूसरा विवाह कानून के खिलाफ था और दण्डनीय भी।

राधा अपने विवाह के बारे में उद्घोषणा भी करना चाहती थी। उसने अपने नाम के बाद, सेतुरामन का नाम जोडकर, अपने गृहस्थ जीवन का विज्ञापन भी स्थानीय-पत्र में प्रकाशित कर दिया था। वह राधा से, राधा सेतुरामन बन गई थी।

वे अफसर, जिनके अधीन दोनों काम कर रहे थे, सौभाग्य से दयालु, संवेदनशील व्यक्ति थे। वे कैसे एक गृहस्थी को नौकरी से निकला दें, जिसे एक बड़े परिवार का पोषण करना है। एक की गलती का दंड कैसे वे सारे परिवार को देते। वे शायद सोच रहे थे कि अगर सेतुरामन की पत्नी ने शिकायत की तो वे कोई कार्यवाही करें, और कमला थी कि वह शिकायत करने का नाम ही न ले रही थी।

सेतुरामन और राधा भी इस प्रकार आनन्द से दिन बिता रहे थे जैसे वे किसी के नाक-भौं चढ़ाने की, या अंगुली उठाने की परवाह ही न करते हों।

अफसर को आखिर वह कदम उठाना ही पड़ा जिसे वे मुल्तवी करते आए थे। बात इतनी उलझ सकती थी कि वे स्वयं उसमें उलझ सकते थे। इससे पहले कि राधा और सेतुरामन को लेकर कार्यालय में बवंडर उठता उन्होंने सेतुरामन का दिल्ली तबादला करवा दिया।

राधा ने भी सेतुरामन के साथ जाना चाहा। उन्होंने कहा कि वे उसका भी तबादला करवा देंगे, तब राधा को उनके परिवार के साथ रहने में कोई आपत्ति न हुई।

विवाह हुए अभी कुछ ही महीने हुए थे और वे इस प्रकार अलग कर दिए गए थे। पर किसी को उनमें किसी प्रकार की सहानुभूति न थी।

विवाह के कारण राधा अपने मायके से अलग हो गई थी। वह अपने घर वालों के खर्च के लिए काफी रुपया देती थी। अब चूंकि वह अपने पति के परिवार के साथ रह रही थी, इसलिए उसने उनको रुपया देना करीब-करीब खत्म कर दिया था। पारिवारिक सम्बन्ध भी, जो एक धार्मिक समाज में पवित्र और अखण्ड माने जाते हैं, शायद पैसे के द्वारा ही दृढ़ रखे जा सकते हैं, अन्यथा उनके टूटने की सम्भावना है।

राधा अपने पति के परिवार के साथ रह रही थी, और सेतुरामन का एक ऐसी जगह तबादला हुआ था, जहाँ उनके लिए अपनी तनख्वाह ही काफी न थी, तो राधा अपनी आय उनको दे रही थी, वह अगर वह न देती, तो शायद उनको भूखों मरने की नौबत आती।

राधा ने उस परिवार से कृतज्ञता की आशा की थी, पर किसी ने कोई कृतज्ञता न दिखाई। वह इतना पैसा दे रही थी, इतने उपहार दे रही थी, व्यवहार, अभिनय ही सही, इतना मीठा था, फिर भी वह उस घर में घृणा की दृष्टि से देखी जा रही थी।

कमला, जिसको औरो से अधिक नाखुश होना चाहिए था, बच्चों से अधिक राधा को समझने की कोशिश कर रही थी। राधा जल्द यह समझने लगी कि वह क्यों एक ऐसे परिवार पर अपनी कमाई खर्च रही थी जो उसको चाहता ही न था।

इस सब के बावजूद, वह वहीं रहती जाती, यदि उस मोहल्ले के लोग बाग उसका अपमान न करते। जब कभी वह दफ्तर से वापिस आती तो आस-पास के परिवार उसका फुसफुसा कर स्वागत करते। पिछले दिनों लडकों का एक झुण्ड उसके पीछे नारे ही लगाने लगा "घर तोड़ने वाली दुल्हन—सफेद बालों वाली दुल्हन सुन्दरी" और जब राधा ने उस झुण्ड के पीछे जयरामन को देखा तो तुरन्त उसने अनुमान कर लिया कि यह उसकी करतूत ही थी।

वह उसके लिए असह्य था, वह दूसरों का उपहास, कमला का अप्रसन्न मौन और अपने ही परिवार का विरोध, मोहल्ले वालों की दबी-दबी गन्दी कानाफूसी, पड़ोसियों की नफरत भरी नजरें, सब सह सकती थी, पर वह इन बच्चों का यह 'प्रदर्शन' न सह सकी।

फिर पति की अनुपस्थिति मे उनके घर रहने का कोई अर्थ भी न था। राधा ने सेतुरामन का घर खाली कर दिया। वह अपनी बहिनों के पास भी न गई। वह एक टटपूँजिए होटल मे रहने लगी। एक स्त्री जो समाज को धिक्कार सकती थी, इस तरह के काम करने की भी हिम्मत रखती थी।

राधा देखने-भालने में बड़ी सात्विक, और साध्वी-सी थी। वह शायद यह दिखाने का प्रयत्न कर रही थी कि वह एक परित्यक्ता स्त्री थी। पर जल्दी ही उस पर भी वे सब बातें बीतने लगीं जो प्राय: अकेली स्त्री पर एकान्त में बीता करती

हैं। अगर दिखावा सती-साध्वी का हो तो कामुक लोगों के लिए शायद वह एक प्रकार की चेतावना-सी हो जाती है।

कमला अपने परिवार का भरण-पोषण जैसे-तैसे कर रही थी यद्यपि उनके पति ने रुपया भेजना बन्द-सा कर दिया था। वह सिलाई-धुलाई का काम लेती, दूसरों के घर में काम करती। और भी बिचारी जाने क्या-क्या करती। जयरामन जिसे कालेज में पढ़ना चाहिए था एक प्रेस में छोटा-मोटा काम कर रहा था। और जया जिसकी शादी हो जानी चाहिए थी, घर में ही पड़ी रही थी और माँ के साथ हर तरह की मेहनत कर रही थी। उसकी एक और बहिन सयानी हो गई थी, चीथड़े पहन कर एक नि.शुल्क विद्यालय में पढ़ने जाया करती थी। उसकी एक बहिन और दो भाई भी उसी स्कूल में जा रहे थे। राधा को कोई गिला न थी कि यह सब उसकी वजह से हो रहा था।

जब कभी सेतुरामन मद्रास आते तो उसके यहाँ ही ठहरते, अपने बच्चों को देखने भी न जाते। राधा को इस बात का गर्व था कि उसका उन पर इतना प्रभाव था।

दिन गुज़रते गए, सेतुरामन का मद्रास जाना और भी कम होता गया। वह हमेशा 'व्यस्त' रहते और कोई न कोई काम सदा रहता, जो उनको दक्षिण न आने देता।

राधा तंग आ गई। आखिर बहुत दौड़-धूप के बाद, उसने अपना तबादला भी दिल्ली करवा लिया। वह वहाँ उनके साथ अपनी जिन्दगी बसर करना चाहती थी, कहीं ऐसा न हो कि बची-खुची जवानी भी खतम हो जाए, और उसे चैन भी न मिले।

श्री सेतुरामन को दिल्ली में रहते अर्सा हो गया था, अगर वे चाहते तो उनको अवश्य एक मकान मिल जाता, पर उन्होंने शुल्क देने वाला अतिथि ही बने रहना चाहा, चूँकि इस तरह बने रहने में उनको कितने ही लाभ थे।

जब राधा दिल्ली पहुँची, तो वह यह जान कर दंग रह गई कि उनके पति के खिलाफ एक बड़ा पेचीदा मुकदमा चल रहा था। तब सेतुरामन को उसका वहाँ आना नगँवारा था। वह एकाकी तो थी ही, अब वह चाहने लगी कि काश वह मर जाती।

सेतुरामन की मेज़बान एक विधवा थी। उसने उनके खिलाफ मुकदमा दायर

कर रखा था। उसका दावा था कि उसके बच्चे के पिता सेतुरामन ही थे। और वे दोनों पति पत्नी की तरह रह रहे थे। इसलिए उनके भरण-पोषण का दायित्व सेतुरामन पर था। मुकदमा सेतुरामन के खिलाफ जा रहा था, अब चूंकि राधा वहाँ थी, उसको भी अदालत में खींचा जा सकता था।

अभी राधा ठीक तरह जम भी न पाई थी कि मुकदमे का फैसला सेतुरामन के विरुद्ध दिया गया। राधा पर तो बिजली-सी गिरी। उसने सोचा कि ऐसा आदमी, जिसके लिए उसने इतना त्याग किया था, निरा लुच्चा निकला, बेदिल वाला। वह क्या कर सकती थी? जिन्दगी से इतना लगाव कि वह सन्यासिनी भी न बन सकती थी। किसी का घर तोड़कर अपना घर बसाने को उसे सजा मिल रही थी। सेतुरामन और राधा को नौकरी से निकाल दिया गया था।

वे मद्रास में अपने परिवार से मिलने चले गए। एक दिन शाम वह अपने घर चोरी-चोरी गए। एक चावल भरी परात के सामने उनका सारा परिवार बैठा
क्योंकि घर
।

सेतुरामन का चेहरा दबे गुस्से से तमतमा रहा था। वे चिल्लाए "मुझे तुम्हारे खाने-वाने की जरूरत नहीं है। तू···" बच्चे अचम्भे में उनकी ओर देखने लगे। जाने वे कहाँ से आ पड़े थे। और क्यों इस ताव में थे। वे सब खड़े हो गए। उनकी माँ भी खड़ी हो गई।

"मैं चाहे जितनी औरतों के साथ रह सकता हूँ। तुम नहीं जानती कि एहसान किसे कहते हैं। क्या तुम्हारी खोपड़ी में अक्ल बिल्कुल नहीं?"

कमला मूर्छित-सी हो गई। उसकी आँखों से आँसू निकलने लगे। वह घबरा गई, वह काँप रही थी।

"उस दिल्ली वाली औरत को तुम्हारे यह बताने की क्या जरूरत थी कि तुम मेरी पत्नी हो, अब मेरी नौकरी चली गई है, जगह चली गई है। मैं सब कुछ खो बैठा हूँ और यह सब तुम्हारी वजह से।" सेतुरामन ने उसको मारने के लिए हाथ उठाया। इससे पहले कि वह कमला को लगता, उनके लड़के ने उनका हाथ हटा दिया।

"अगर आपके हक हैं, तो आपकी जिम्मेदारी भी हैं। आपने हमें छोड़ दिया

ही पडता है। हम यही करते आए हैं। बहू अच्छी है।" भूषण की माँ कहती गई।

"पर यह मुझ पर ही क्यों बीतनी थी?" भूषण ने पूछा। "बेटा, ऐसी बातें कही नही जाती हैं। फिजूल ज़िद नहीं करनी चाहिए।" भूषण के पिता ने उनको उठाना चाहा, पर वे इतने बूढ़े और इतने दुबले-पतले कि वे उनको उठाने की कोशिश मे लडखडा गए। भूषण तब भी न उठे। उनके माता-पिता पास के बराण्डे में खड़े हो गए।

उनके कमरे से जाने की देरी थी कि भूषण के मित्र कमरे में आ गए।

"आओ भी उन बातों पर सोचना ही बेकार है, जो हमारे काबू से बाहर हैं।" उनमें से एक ने काँपती हुई आवाज़ में कहा। उसके कहने मे दया गूंज रही थी। भूषण क्रोध सह सकते थे, व्यंग्य भी और परिहास भरे संकेत भी, पर दया उनकी सहन-शक्ति से परे थी। वे खड़े हुए, "अच्छा चलो, चलें।"

उनके ससुर, और उनके बन्धु-बान्धव अपनी लड़की को विदा करने के लिए वहाँ उपस्थित थे।

भूषण का कस्बा वहाँ से कोई पचास मील दूर था। नव-विवाहित दम्पति एक ही कार मे थे। दुल्हन रेवती के साथ उनकी कोई चचेरी बहिन थी। बाकी बराती एक किराये की बस मे उनके पीछे आ रहे थे।

शर्मीले से शर्मीले नव-विवाहित भी लुके-छुपे एक-दूसरे को देखने की कोशिश करते हैं, लजा-लजा कर आँखें चार करने की कोशिश करते हैं, पर भूषण चुप पथराये से बैठे रहे जबकि उनकी पत्नी रह-रहकर अपने कपड़े ठीक करती, कभी आँचल सँवारती, तो कभी ब्लाउज़, कभी फूलों से लदे बाल हिलाती। कभी-कभी हवा मे उड़ती साड़ी समेटती तो कभी नीचे झुक कर अपने पति को देखने का प्रयत्न करती।

वे अपने कस्बे मे पहुँचे। कस्बा बड़ा नही था, हर कोई हर किसी को जानता था। भूषण का परिवार वहाँ कई बरसों से रह रहा था। उनका सम्पन्न और सम्मानित परिवार था।

दुकानदार, राहगीर और वे सब जो विवाह में आ नही पाए थे, नज़रें गाड़-गाड़कर धीमे-धीमे जाती कार की ओर देख रहे थे और सब दंग थे कि इतने खूबसूरत आदमी के नसीब मे यह बदसूरत औरत ही बदी थी। उनमें से कुछ उनकी ओर अँगुली करके, कह-कहा कर रहे थे। भूषण को लगा जैसे वे अपने ठहाके से

उन पर गोलियाँ बरसा रहे थे। उन्हें अपनी दया से मून रहे हों।

वह सुहाग रात, जिसके सपने देखते-देखते लोग नही अघाते, आई और भूपण को ठंडा, कड़वा, क्रुद्ध छोड कर चली गई।

भूपण ने अपने विवाह का प्रश्न, एक आज्ञाकारी पुत्र की तरह अपने माँ-बाप पर छोड दिया था। जहाँ कहीं वे तय करते, जिस किसी से निश्चित करते, वह मान्य था। इसके बावजूद भूपण तिलमिला रहे थे।

बाद में एक सम्बन्धी ने जो दोनों परिवारों को अच्छी तरह जानते थे, भूपण को बताया कि कैसे दुल्हन बदल दी गई थी और कोई भी इस गलती के लिए जिम्मेवार न था। अपनी पत्नी को दोप देना तो कतई अनुचित था। उस बिचारी का क्या कसूर?

भूपण के ससुर ने अखबारो में अपनी लडकी के विवाह के बारे में विज्ञापन दिया था। विज्ञापन को देखकर काफी लोगों ने उनको लिखा भी। अगर एक सब तरह से ठीक था, तो दोनों की जन्मकुडली मेल न खाती थी, आखिर उनको भूपण को चुनना पड़ा। उनमे सभी बातें थी। पुराना खानदान था, ढेर-सी जमीन जायदाद थी। विवाह निश्चित कर दिया गया।

पर भूपण के ससुर को ऐन मौके पर अपना निश्चय बदलना पड़ा। उनकी पत्नी का एक नजदीक के सगे-सम्बन्धी उस समय वहाँ आए। वे अमेरिका में डाक्टरी कर रहे थे। स्वदेश विवाह के लिए आए थे। और उनमे वे सब बातें तो थी ही जो भूपण मे थी, इनके अलावा उनकी हैसियत थी, पेशा था। फिर अमेरिका की चमक-धमक थी, और शादी-वादी पर बड़े पैमाने पर खर्च करने की भी जरूरत न थी। वे जल्द-से-जल्द शादी करके वापिस चले जाना चाहते थे।

उस लड़की की उनसे शादी कर दी गई जिससे भूपण की तय हुई थी। वह अपने पति के साथ अमेरिका चली भी गई थी। यह एक आधुनिक व्यक्ति का आधुनिक विवाह था। भूपण के ससुर सन्तुप्ट थे।

क्या वे यह भूपण के पिता से कह सकते थे? क्या इस तरह की बातें किसी से कही जाती हैं? जो बातें, छुपे-छुपे घरों में जल्दी-जल्दी कर दी जाती हैं, उनके बारे मे लोग जानें भी तो कैसे जानें? क्या वे उस शादी को रद्द कर देते, जो पहले ही निश्चित कर दी गई थी? फिजूल हो-हल्ला मचता? और खास कुछ होता हुआता न।

ही पड़ता है। हम यही करते आए हैं। बहू अच्छी है।" भूषण की माँ कहती गईं।

"पर यह मुझ पर ही क्यों बीतनी थी?" भूषण ने पूछा। "बेटा, ऐसी बातें कही नहीं जाती हैं। फिजूल जिद नहीं करनी चाहिए।" भूषण के पिता ने उनको उठाना चाहा, पर वे इतने बूढ़े और इतने दुबले-पतले कि वे उनको उठाने की कोशिश में लड़खड़ा गए। भूषण तब भी न उठे। उनके माता-पिता पास के बराण्डे में खड़े हो गए।

उनके कमरे से जाने की देरी थी कि भूषण के मित्र कमरे में आ गए।

"आओ भी उन बातों पर सोचना ही बेकार है, जो हमारे काबू से बाहर हैं।" उनमें से एक ने काँपती हुई आवाज में कहा। उसके कहने में दया गूँज रही थी। भूषण क्रोध सह सकते थे, व्यंग्य भी और परिहास भरे संकेत भी, पर दया उनकी सहन-शक्ति से परे थी। वे खड़े हुए, "अच्छा चलो, चलें।"

उनके ससुर, और उनके बन्धु-बान्धव अपनी लड़की को विदा करने के लिए वहाँ उपस्थित थे।

भूषण का कस्बा वहाँ से कोई पचास मील दूर था। नव-विवाहित दम्पति एक ही कार में थे। दुल्हन रेवती के साथ उनकी कोई चचेरी बहिन थी। बाकी बराती एक किराये की बस में उनके पीछे आ रहे थे।

शर्मीले से शर्मीले नव-विवाहित भी लुके-छुपे एक-दूसरे को देखने की कोशिश करते हैं, लजा-लजा कर आँखें चार करने की कोशिश करते हैं, पर भूषण चुप पथराये से बैठे रहे जबकि उनकी पत्नी रह-रहकर अपने कपड़े ठीक करती, कभी आँचल सँवारती, तो कभी ब्लाउज, कभी फूलों से लदे बाल हिलाती। कभी-कभी हवा में उड़ती साड़ी समेटती तो कभी नीचे झुक कर अपने पति को देखने का प्रयत्न करती।

वे अपने कस्बे में पहुँचे। कस्बा बड़ा नहीं था, हर कोई हर किसी को जानता था। भूषण का परिवार वहाँ कई बरसों से रह रहा था। उनका सम्पन्न और सम्मानित परिवार था।

दुकानदार, राहगीर और वे सब जो विवाह में आ नहीं पाए थे, नजरें गाड़-गाड़कर धीमे-धीमे जाती कार की ओर देख रहे थे और सब दंग थे कि इतने खूबसूरत आदमी के नसीब में यह बदसूरत औरत ही बदी थी। उनमें से कुछ उनकी ओर अंगुली करके, कह-कहा कर रहे थे। भूषण को लगा जैसे वे अपने ठहाके से

उन पर गोलियाँ बरसा रहे थे। उन्हें अपनी दया से भून रहे हो।

वह सुहाग रात, जिसके सपने देखते-देखते लोग नही अघाते, आई और भूषण को ठंडा, कड़वा, क्रुद्ध छोड़ कर चली गई।

भूषण ने अपने विवाह का प्रश्न, एक आज्ञाकारी पुत्र की तरह अपने माँ-बाप पर छोड़ दिया था। जहाँ कही वे तय करते, जिस किसी से निश्चित करते, वह मान्य था। इसके बावजूद भूषण तिलमिला रहे थे।

बाद में एक सम्बन्धी ने जो दोनो परिवारो को अच्छी तरह जानते थे, भूषण को बताया कि कैसे दुल्हन बदल दी गई थी और कोई भी इस गलती के लिए जिम्मेवार न था। अपनी पत्नी को दोष देना तो कतई अनुचित था। उस विचारी का क्या कसूर ?

भूषण के ससुर ने अखबारो मे अपनी लड़की के विवाह के बारे में विज्ञापन दिया था। विज्ञापन को देखकर काफी लोगों ने उनको लिखा भी। अगर एक सब तरह से ठीक था, तो दोनों की जन्मकुंडली मेल न खाती थी, आखिर उनको भूषण को चुनना पड़ा। उनमे सभी बातें थी। पुराना खानदान था, ढेर-सी जमीन जायदाद थी। विवाह निश्चित कर दिया गया।

पर भूषण के ससुर को ऐन मौके पर अपना निश्चय बदलना पडा। उनकी पत्नी का एक नजदीक के सगे-सम्बन्धी उस समय वहाँ आए। वे अमेरिका में डाक्टरी कर रहे थे। स्वदेश विवाह के लिए आए थे। और उनमे वे सब बातें तो थी ही जो भूषण मे थी, इनके अलावा उनकी हैसियत थी, पेशा था। फिर अमेरिका की चमक-धमक थी, और शादी-वादी पर बड़े पैमाने पर खर्च करने की भी ज़रूरत न थी। वे जल्द-से-जल्द शादी करके वापिस चले जाना चाहते थे।

उस लड़की की उनसे शादी कर दी गई जिससे भूषण की तय हुई थी। वह अपने पति के साथ अमेरिका चली भी गई थी। यह एक आधुनिक व्यक्ति का आधुनिक विवाह था। भूषण के ससुर सन्तुष्ट थे।

क्या वे यह भूषण के पिता से कह सकते थे ? क्या इस तरह की बातें किसी से कही जाती है ? जो बातें, छुपे-छुपे घरों मे जल्दी-जल्दी कर दी जाती हैं, उनके बारे मे लोग जानें भी तो कैसे जानें ? क्या वे उस शादी को रद्द कर देते, जो पहले ही निश्चित कर दी गई थी ? फिजूल हो-हल्ला मचता ? और खास कुछ होता हुआता न।

भूषण के ससुर के घर में उनके भाई की लड़की रेवती बड़ी हो रही थी। उनका भाई गुज़र चुका था। लड़की की माँ भी ज़िन्दा न थी। वह अनाथ-सी थी। उसकी भी किसी-न-किसी दिन शादी करनी ही थी, और ठीक शादी के दिन उसका भूषण के साथ विवाह कर दिया गया और दहेज इस तरह दिया गया जैसे हरजाने की बड़ी रकम दी गई हो।

और एक शादी सिर्फ इसलिए तो नहीं तोड़ी जा सकती थी, कि दुल्हन बद-सूरत थी, और कोई तोड़े तो तोड़े भूषण के पिता यह काम बिल्कुल न करते। वे बहुत समझदार और सुसंस्कृत व्यक्ति थे।

भूषण के पिता ने सोचा कि जैसे-जैसे दिन गुज़रेंगे सब ठीक हो जाएगा और उनका लड़का भी गृहस्थी करने लगेगा। शायद होता भी ऐसा ही। यदि भूषण यह न समझते कि हर कोई उनका मखौल कर रहा था, पीठ पीछे उनको उल्लू समझ रहा था। वे न घर से निकलते न किसी से मिलते-मिलाते ही। अपने माता-पिता से भी न बोलते। जाने क्या-क्या सोचते, वे अपने कमरे ही बैठे रहते।

एक दिन उनके पिता ने संकेत किया, "तुम एक निर्दोष को दण्ड दे रहे हो।"

भूषण कुछ ऐसे पथरा से गए थे, कि इस बारे में, इतना कुछ सोचते हुए भी कुछ न सोचा।

उनकी पत्नी किसी-न-किसी बहाने उनसे बात करने कमरे में आती और भूषण उनसे बात भी न करना चाहते। वे बड़े पशोपेश में थे। वे सोचते, क्या मेरे भाग्य में एकान्त भी नहीं लिखा है?

ऊब कर, तंग होकर, वे उसी क्लब में कभी-कभी चले जाते, जहाँ वे शादी से पहले रोज़ जाया करते थे। वे वहाँ विशेष लोकप्रिय न थे। लोग सोचते थे कि उनको अपने पैसे, दौलत, खूबसूरती और अक्लमन्दी का गरूर था।

जो पहले उनसे मिलते-मिलाते भी थे वे अब उनसे न बोलते, उनको डर था कि जिस मूड में वे थे, चाहे वे कुछ भी कहें, उनको गलत समझा जा सकता था।

उनकी कुर्सी के पीछे, क्लब में ब्रिज खेलनेवालों की एक चौकड़ी लगी हुई थी। वे बतिया रही थीं। भूषण को बहुत देर तक अकेला बैठा देख, उनमें से एक स्त्री फुसफुसायी, "अरे, जिसको घर में पत्नी के साथ खुशी-खुशी बैठना चाहिए था, वह यहाँ मुँह सुजाये अकेले बैठे हैं।"

"ठीक ही तो है, नही तो इस आदमी को अपनी खूबसूरती पर इतना गरूर था।"

अगर और कोई और किसी मूड मे होता तो इसका या तो जवाब देता, नही तो हंसी मे उड़ा देता। किन्तु भूषण ठीक मूड में न थे। उन्होने उस स्त्री की ओर घूरा, फिर चुपचाप क्लब से खिसक गए।

इसके बाद उन्होंने क्लब जाना ही छोड़ दिया। वे सुन्दर और बुद्धिमान तो थे ही, बहुत भावुक प्रकृति के भी थे। संवेदनशील भी। अगर उनकी प्रकृति और नियति कुछ और होती तो यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना उनको इतना न झकझोरती। उनकी प्रकृति ही अब उनके प्रतिकूल थी।

वे एक प्रकार की दुविधा मे थे। उनकी सारी शिक्षा-दीक्षा, मूल्य उनके विपरीत थे, वे जानते थे कि जो कुछ वे कर रहे थे, वह गलत था, पर उन्होंने अपनी ज़िद न छोड़ी और न पत्नी के साथ रहने को ही राजी हुए। दिन गुज़रते जाते थे और वे एक-दूसरे से दूर होते जाते थे।

भूषण इस सबसे दूर चले जाना चाहते थे। वे एक हिल स्टेशन चले गए। उन्हे स्वास्थ लाभ की आवश्यकता न थी। वे एक नई जगह, नई जीवनचर्या की तलाश मे थे, जिसमे वे अपनी चिन्ताएं भूल जाए।

वे हिल स्टेशन पर थे कि उनकी पत्नी घर की वधू के रूप में अपने कर्त्तव्य बडी लगन और प्रेम के साथ निभा रही थी। वह अपने ससुर और सास के लिए बहुत प्रिय हो गई थी। वह उनकी हर तरह से सेवा सुश्रुषा कर रही थी।

रेवती को प्रेम की ज़रूरत थी, रात-दिन प्रेम की ज़रूरत थी, ढेर से प्रेम की ज़रूरत थी, और उसको वह न मिल रहा रहा था।

भूषण यदि सस्कारी, कर्मकाण्डी परिवार के सदस्य न होते, तो शायद वे भी एन्द्रिक विलास में फंस जाते। इसके बावजूद वे रंडियो के पास हो आये, और उन औरतों ने उनको चिढ़ाया भी था—"बच्चो की-सी शक्ल है और हरकतें भी बच्चो की-सी ही।"

जो पुराने नियमों पर अपने जीवन को ढालते है, वे हमेशा दूसरों की सम्मति की बहुत परवाह करते हैं। ऐसा लगता है जैसे वे दूसरों के लिए ही जी रहे हों। जब कभी थोड़ी बहुत आलोचना होती है तो वे घबरा जाते है। बिगड़ उठते है।

जब रेवती को प्रेम न मिला, और अपने कर्त्तव्यों के निभाने के बावजूद न

मिला तो वह उन संस्थाओं में सेवा करने लगी, जहाँ अनाथ, असहाय लोगों को रखा जाता था। वह दिन-रात उनके काम मे लगी रहती, सवेरे-सवेरे चली जाती और शाम देरी से आती।

उनके सास-ससुर भी शायद उसके कार्य की प्रशंसा करते यदि परिस्थितियाँ कुछ और होती। यही एक मार्ग उसके पास रह गया था जिससे वे प्रेम प्राप्त कर सकती थी। उनके पति भी कैसे आपत्ति करते? परन्तु इस कारण वे अपनी पत्नी से और भी विमुख हो गए। और वह इतनी उपेक्षित रही थी कि थोडी और उपेक्षा से ज्यादा कुछ बनता-बिगड़ता न था।

रेवती कस्बे के सामाजिक क्षेत्र मे काफी प्रसिद्ध हो गई। वह साथ के कार्य-कर्त्ताओं मे बिना किसी झिझक के खुलेआम घूमती फिरती। वह अच्छे परिवार की थी, इसलिए उसकी सेवाओं के बारे मे चर्चा भी रहती। और हर कोई जानता-सा लगता था कि वैवाहिक-सुख के न मिलने पर ही वह यह सेवा कार्य कर रही थी। यद्यपि वह भटकी न थी, फिर भी वह कुछ-कुछ बदनाम थी।

एक दिन भूषण क्लब गए। सदस्यो से सकुचाते हो थे। वे वाचनालय में आ बैठे, वहाँ पुरुष सदस्य नहीं आते थे। और कस्बे की कुछ धनी समाज सेविकायें वहाँ बैठी-बैठी बतिया रही थी।

"देखती हो···वहाँ, वह बेमौसमी बादल···रेवती का पति···।" एक स्त्री ने कहा।

"पारा-सा आदमी है, फिर गरूर है ढेर-सा अपनी शक्ल-सूरत पर। नहीं तो अपनी जिन्दगी यूँ बरबाद न करता महज इसलिए कि लोग कुछ बकते हैं। नाक नक्शा ठीक हो और अक्ल टेढ़ी हो तो इस तरह की बातें अक्सर होती हैं···।" उनमें से एक वृद्ध स्त्री ने कहा।

यह बात भूषण के कान में पड़ी। वह उनके विश्लेषण से प्रभावित न थे। वे शायद कमरे से उठ कर चले जाते, अगर एक पत्रिका में छपी नग्न स्त्री का चित्र आकर्षित न करता।

"इस खूबसूरती का फायदा भी क्या अगर कोई एक बदसूरत स्त्री को भी खुश न कर सके। यह अब सारे कस्बे पर छायी हुई है। अगर उसके साथ ठीक सलूक किया गया होता तो वह बहुत अच्छी पत्नी बनकर दिखाती।"

"इनको अक्ल तभी आयेगी जब वह किसी के साथ···खैर, हमको क्या?"

एक और स्त्री ने कहा।

वे आपस में इस तरह बातें कर रही थी, जैसे भूषण वहाँ बैठा ही न हो। वे शायद चाहती थीं कि वे उनकी बातें सुने, पर उनको डर था कि वह जाकर कही पत्नी पर न उबल पड़े। फिर वे सोचने लगती थी कि यदि उसने यह किया तो वह यही साबित करेगा कि वह मामूली आदमी है।" वे हँसी।

थोड़ी देर बाद, उनमें से एक, जिससे भूपण का कुछ परिचय था, पास आई। "नमस्ते, रेवती कहाँ है? उसे भी जो साथ ले आते। हम भी कौन-सी अप्सरायें हैं? फिर कौन कब तक अप्सरा बनी रहती है।" वह स्त्री मुस्कराई। भूपण भी मुस्कराए।

उनको तुरन्त भास हुआ कि उनका अभिमान था, खूबसूरती का अभिमान, जिसको चोट लगी थी। खैर, अब उसी अभिमान पर एक और तरह की चोट की जा रही थी।

वे अपने से कहने लगते थे कि अगर विज्ञापन देखकर कोई चीज़ मंगाई जाती है तो भले वह अच्छी न हो, भले आदमी उसे लौटा नही देते। मुझे औरो के लिए नही जीना है, अपने लिए जीना है। और जीता तभी कोई है, जब किसी से प्रेम करता है, किसी का प्रेम पाता है, खूबसूरती किस काम की, जिसके बूते पर अगर प्रेम भी न मिले—घाटे का सौदा ही है।"

ये सब बातें उनके मन मे एकाएक उठी, और वे घर की ओर अपनी पत्नी को गले लगाने दौड़े। भूपण कैसे अपनी पत्नी से कहते कि अभिमान दुधारी होता है।

दुख के साथी

सुरेन्द्रन और उनके मित्र बरांडे में शास्त्री की इन्तजार कर रहे थे, और शास्त्री कमरे के अन्दर बिस्तर पर उनको एक तरफ हटाकर, चादर बदल रहे थे, चूंकि वह गन्दी हो गई थी। नई चादर बिछायी, और उनको बिस्तर पर ठीक तरह लिटाया, फिर उनको स्पोन्ज से धोया पोंछा। उनके सिर के बाल ठाक किए और उनके पैरों को सफेद चादर से ढक दिया।

रोज के ये काम खतम करके, शास्त्री ने सुरेन्द्रन और उनके साथी व। उसी कमरे के अन्दर बुलाया। और कोई कमरा न था। और वह कमरा भी बहुत छोटा था, और दवाइयों की बू से भरा हुआ था।

"आप व्यस्त लगते हैं। हम आपका ज्यादह समय न लेंगे। हम चाहते हैं कि आप हमारी नई फिल्म के लिए संवाद और गीत वगैरह लिखें।

पैसे के बारे में कोई चिन्ता नहीं है, मैंने आपकी कहानियों पर बनी फिल्में देखी हैं, गीत सुने हैं। जैसे लाखों उनसे प्रभावित हुए हैं, मैं भी प्रभावित हूँ। कितने ही गीत तो मैं स्वय गुनगुना सकता हूँ। सुरेन्द्रन ने इस तरह शास्त्री की ओर देखा जैसे नई रईसी का दुरभिमान उनकी आँखों से टपक रहा हा।

"आजकल लिखने के लिए समय नहीं है।" शास्त्री ने बिस्तर पर लेटी मालिनी की ओर देखकर कहा।

सुरेन्द्रन ने नोट बुक्स, और कागज का बड़ा ढेर, और स्लेट खाट के पाए के पास देखा, फिर शास्त्री की ओर नजर फेरी और इस तरह मुस्कराये, जैसे वे कह रहे हों, "आप झूठ बोलते पकड़े गए हैं।" उसने कहा, "आप जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति लिखे बगैर रह भी कैसे सकते हैं?"

"हाँ, मैं लिखता जरूर हूँ किन्तु फिल्मों के लिए नहीं। जब तक······।" शास्त्री ने सुरेन्द्रन की गलतफहमी दूर की।

"मैं बहुत दूर से आया हूँ, और आपसे निवेदन करने के लिए आया हूँ, खास कर तब जबकि आपको करीब-करीब सब भूल गए हैं। आपको···।" सुरेन्द्रन इससे अधिक बतमीज नही हो सकते थे। शास्त्री को उनकी यह बात लग गई। वे कवि तबीयत के मस्त आदमी थे।

"जो मुझ पर दया करते है, अच्छा काम नहीं करते है। मुझे पैसे-वैसे की खास जरूरत नही है।" यह शास्त्री जो कोई फिलम निर्माता उनसे मिलने आते थे, कहते आ रहे थे।

"आपको कही पछताना न पड़ जाये। मैं आप जैसे बडे आदमी पर दया करने वाला कौन होता हूँ ?" सुरेन्द्रन ने अपनी बातो का लहजा बदलते हुए कहा।

"खैर, आप थोडी देर बाहर इन्तजार कीजिए मैं एक मिनट मे आता हूँ।" शास्त्री ने कहा। सुरेन्द्रन और उनके मित्र बराण्डे मे चले गए।

शास्त्री ने स्लेट पर लिखा, "क्या मैं इसे स्वीकार कर लूं ?" मालिनी ने उसे तिरछी नजर से देखा, और इस तरह सिर हिलाया जैसे वह उनको स्वीकार करने से मना कर रही हो। वह बोल न पाती थी।

शास्त्री ने बाहर आकर कहा, "मुझे माफ कीजिए, मै आपके लिए कुछ न लिख सकूँगा।"

जल्द ही शास्त्री को मालूम हुआ कि सुरेन्द्रन की फिलम कम्पनी का इससे पहले कि वह कोई फिलम बना सकी, दिवाला निकल गया। और भी बहुत-सी कम्पनियों का भी यही हाल हुआ था जिनके लिए मालिनी ने उनको लिखने के लिए अनुमति न दी थी। शास्त्री अगर उनकी अनुमति का इतना आदर करते थे तो उसके बहुत से कारण थे।

शास्त्री को पैसे की जरूरत थी क्योकि उनकी आय बहुत कम हो गई थी, और मालिनी की चिकित्सा का खर्च इस तरह बढ रहा था कि उनको पैसे की पहले से कही अधिक आवश्यकता थी। फिल्मों में उन्होने काफी पैसा कमाया था, पर बहुत कुछ इधर-उधर के ऐशों मे उड़ा भी दिया था, और उनकी जिम्मेवारियाँ बढती जाती थी।

शास्त्री कभी नाटको के सफल लेखक थे। उन्होने कितने ही अच्छे नाटक लिखे थे, और अपने लेखन से एक ऐसे क्षेत्र मे, जिसमे परम्परा का प्रभाव अधिक

था, एक नया मार्ग प्रशस्त किया था ।

फिर वे फिल्मों में आ गए, पैसों के लालच ने उनको मशीन की तरह लिखने के लिए बाध्य किया । उन्होने फिल्मों के लिए इतना, और इतनी जल्दी लिखा कि जल्द ही बहुत कुछ पैसा कमा लिया । उन्होंने कभी न आशा की थी कि वे भी कभी अमीर हो सकेंगे । उन्होने उन सब प्रतिबन्धो को छोड़ दिया जिनके कारण उनका जीवन तब तक नियन्त्रित था । क्यों वे इस तरह भोगी बन गए थे ?

विलासी कुछ भी रहे हो, वे अपना दृष्टिकोण और स्वभाव न बदल सके । वही पुराना ग्रामीण दृष्टिकोण था जिसमे इधर-उधर के ऐश, अनैतिक समझे जाते थे । लेकिन देखा-देखी वे भोग-विलास मे फँस गए । वे अपने पर काबू न कर पाते थे । जो उनको जानते थे उनको उस हालत मे देख, उन पर तरस भी खाते थे । जब कभी होश आता तो अपनी ही लाचारी पर वे पछताते ।

किशोरावस्था मे ही, परम्परा के अनुसार उनके पिताजी ने शास्त्री की शादी करवा दी थी । उनका ख्याल था कि शादी करने से वे सुधर जाएँगे क्योंकि वे तब तक नाटको पर पगला चुके थे । स्कूल छोड दिया था और कुछ-कुछ आवारा हो गए थे । दो बच्चे भी हुए, पर परिवार उनको अनुशासित न कर पाया । वे नाटकों मे ही रमते रहे ।

उन्ही दिनो वे मालिनी के सम्पर्क मे आए । वह बहुत ही सुन्दर थी । नाजुक और नफीस । वह वेश्या कुल की थी । और शास्त्री उस पर लट्टू थे । तब वह नाटकों मे आने का प्रयत्न कर रही थी । उसमे अभिनय की प्रतिभा तो विशेष न थी, पर वह सब कुछ था, जिसके आधार पर वह नाटको मे काम कर सकती थी ।

शास्त्री का पालन-पोषण इस तरह हुआ था और इस तरह उन पर परिवार का भार था, और इस कदर साधनहीन थे कि वह मालिनी के सामने अपना प्रेम व्यक्त भी न कर सकते थे । इन सब विवशताओ के कारण मालिनी का मोह उनमे और बढ़ गया था ।

मालिनी केवल उनकी प्रेरणा-स्रोत ही नही, अपितु उनके बल और सकल्प का भी स्रोत थी । —वह बल जो प्रायः प्रेम की असफलता मे पैदा होता है । वे मालिनी को मन-ही-मन पूजते थे ।

शास्त्री ने इस तरह के नाटक लिखे जिनमे मालिनी काम कर सके। उन्होने उसको काम दिलाना चाहा, पर उसको कोई छोटी-मोटी भूमिका भी न देता।

मालिनी का उन पर इतना ज़बरदस्त प्रभाव था, उसका इस कदर खिंचाव था कि उसके साथ रहने के लिए वे अपना परिवार छोड सकते थे, पर छोडा नही। उनको इसका अफसोस रहा। मालिनी उनसे जितनी दूर होती, उतना ही उसका आकर्षण बढता।

प्रतिभा हो, या न हो, मालिनी फिल्मो मे सफल होना चाहती थी। वह नाटकों मे तो चमक न पाई थी, इसलिए वह शहर मे, फिल्मो में काम करने चली गई।

शुरू मे तो मालिनी को कुछ तकलीफ हुई पर कुछ दिन बाद, किस्मत ने साथ दिया, और नाटक की एक छोटी-मोटी कलाकार रजतपट की अभिनेत्री बन निकली।

शास्त्री को उससे एक तरह की डाह थी। वे भी मालिनी की तरह सफल होना चाहते थे। वे भी शहर चले आए और उन्होंने भी फिल्मो मे अपना भाग्य आजमाया।

मालिनी शास्त्री के दिलो-दिमाग पर हावी थी। जो कुछ भी वे लिखते या तो वह मालिनी के बारे मे होता, नही तो उसके लिए। मालिनी भी यह जानती थी, वह उसकी कल्पना को उकसाती रही।

इस बीच मालिनी ने फिल्मी दुनिया के बड़े-बडे लोगों से दोस्ती कर ली थी, और वह एक लेखक के साथ देखा नही जाना चाहती थी। वह अपनी खूबियाँ जानती थी, और यह भी जानती थी कि उनका कैसे उपयोग किया जाए।

शास्त्री इतने मुग्ध थे मालिनी पर, कि वे और औरतों के साथ होने पर भी उसको न भूल पाते। मालिनी भी उनको पूरी तरह ठुकरा न पाती थी। शास्त्री उसको हमेशा कोई न कोई कीमती उपहार देते रहते।

शास्त्री एक नेपथ्य गायिका के साथ उलझ गए। वह मालिनी की तरह न ठडी थी, न उतनी चतुर ही। वह प्रायः शास्त्री के गीत गाया करती थी और इतनी अच्छी तरह गाती कि शास्त्री उसकी ओर आकर्षित हुए बगैर न रह सके।

यह तो शुरुआत थी, उसके बाद शास्त्री अपने घर वालों से अलग हो गए। उनको एक किराए के मकान मे रखा, और उनके गुजारे के लिए पैसे देने लगे।

और वे स्वयं धनियों के मौहल्ले में रहने लगे।

फिर तो उनके जीवन मे औरतों का तांता-सा लग गया। बुरी आदतें बढती गईं। अपने मन को मनाने के लिए वे पीने भी लगे। हमेशा नशे मे रहते और नशे मे वे जो गीत बडबडाते, उन्हें फिल्म निर्माता वडी-बड़ी रकम देकर खरीद ले जाते।

न मालूम दया के कारण, या किसी और वजह से मालिनी उनको कभी-कभी "वह" देती, जिसके लिए वे जिन्दगी-भर तडपते आए थे और जिसे मांगने के लिए वे हिचकते आए थे। वह उनमें एक तरफा काम-वासना उत्तेजित करती और साथ ही उनको अपने व्यवहार से नपुंसक-सा बना देती। उस विचित्र स्थिति में शास्त्री के लिए वह एक चेतावनी-सी बन गई।

मालिनी एक आदमी से दूसरे आदमी के पास अपनी उन्नति के लिए फुद-कती गई। फिर वह एक ऐसी जगह पर आ गई जहाँ से आगे वह न जा सकती थी, और और सुन्दर, और उससे अधिक प्रतिभा सम्पन्न लड़कियों ने उसको करीव-करीब फिल्मी दुनिया से धकेल दिया।

एक और दुखद घटना भी घटी। उसको अपने भोग-विलास की कीमत देनी पड़ी। वे पेट के नीचे सुन्न पड़ गईं। निष्प्राण-सी हो गई। चेहरा खुश्क हो गया और सिकुडने लगा। शरीर के और अंग भी वेकाम होते गए। यहाँ तक कि वह बोल भी न पाती। वे सब पतगे, जो उसके चारों ओर मंडराया करते थे, एक-एक करके उसको छोडकर चले गए।

जब सबने छोड़ दिया तो वह शास्त्री के पास आई। वे तो जीवन भर उसकी प्रतीक्षा करते आए थे, और वह अब उसके पास आई थी, बीमार थी तो क्या, शास्त्री ने सोचा कि मैं उनकी सेवा-सुश्रुषा करके उसको ठीक कर सकता हूँ।

शास्त्री ने अपना परिवार तो पहले ही छोड़ दिया था, और वे औरतें जो उनकी जिन्दगी मे इस बीच आई थीं, औरों के पास चलीं गईं। शास्त्री खुश थे कि उनकी प्रेरणा का स्रोत, मालिनी उनके पास थी। उन्होने यह भी न जानना चाहा कि वह तब उनके पास आई थी, जब कि वह और कही न जा सकती थी। शास्त्री ने पूजा करनी ही सीखी थी, वह मालिनी की पूजा करने लगा।

उन्होंने अपनी सारी कमाई उसके इलाज मे खर्च कर दी, पर उसे कोई फायदा न हुआ। उस हालत में भी शास्त्री सोचते कि भगवान उनके प्रेम और

श्रद्धा की परीक्षा ले रहे थे, और वे मालिनी के प्रति और आसक्त हो जाते।

दोनों ने फिल्मी दुनिया को नमस्ते कर दी। उस दुनिया को, जिसने उनको पैसा दिया था और वह सुख-सन्तोष दिया था, जिसके लिए वे जिन्दगी भर ललचाते आए थे, पर इस सबके साथ उन्होंने एक प्रकार की शून्यता का अनुभव किया था।

जब मालिनी थोड़ी-बहुत बोल लेती थी, तब उसने कहा था, "अब तुमको, आज रही, कल गई, ऊटपटाँग फिल्मों के लिए न लिख कर, कुछ ऐसी चीजें लिखनी चाहिएं, जो टिकाऊ हों, स्थाई महत्त्व की हों, काफी लिख लिया इन बेपढ़ फिल्मी गूँगों के लिए।"

इसके बाद, शास्त्री बहुत बदले। उन्होंने फिल्मों से अपना सम्बन्ध बिल्कुल तो न तोड़ा, चूँकि उनसे उनकी रोजी-रोटी बनती थी, पर वे लिखते वही थे जो वे लिखना चाहते थे, या वह जो मालिनी को पसन्द था। फिल्म प्रोड्यूसर उनको कहते कि वे पागल हो गए थे, पर जब कभी उनको उनके काम की जरूरत होती तो वे उनके पास आकर अलख जगाते।

अगर दिल में दर्द न हो तो लेखन भी बेरस-सा होता है। उन्होंने सैकड़ों गीत और दर्जनों किताबें पहले लिखी थीं, उन सबको उन्होंने जलाने की ठानी। वे भी फिल्मों की तरह थीं,...साँचों में ढली हुई, दूसरों का मनोरंजन करने के लिए, इसलिए बनावटी, कृत्रिम। वे लेखक वर्ग में प्रशंसित और सम्मानित होने लगे।

शास्त्री ने उस दिन सवेरे मालिनी को उसकी दवा दी और थोड़ी देर के लिए बराण्डे में आए। वहाँ दो व्यक्ति उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने उनको अन्दर बुलाया।

"आपने हमारे साहित्य को इतना कुछ दिया है कि हम आपका सम्मान करना चाहते है, अभिनन्दन करना चाहते है।"

"नहीं, नहीं, जो कुछ मैंने किया अपने लिए किया है। और मैं नहीं समझ पाता हूँ कि क्यों मुझे उस काम के लिए सम्मानित करना चाहते है, जो मैंने अपने लिए किया था।"

"पर यह हमारा भी है, छपने पर कोई चीज उतनी ही हमारी है, जितनी कि आपकी।" उनमें से एक ने युक्ति दी।

"क्या मैं इनका सुझाव स्वीकार कर लूँ?" शास्त्री ने मालिनी से

मालिनी ने मुस्कराते-मुस्कराते सिर हिलाकर, उनको सकेत किया कि वे निमन्त्रण स्वीकार कर लें ।

"लेखन स्वय लेखन का पुरस्कार है । क्या उस आनन्द से बढकर भी कोई आनन्द है, जो कष्टों के द्वारा प्रेरित लेख से मिलता है ?" शास्त्री ने सोचा। हाथ जोडकर उन्होने उन व्यक्तियों से विदा ली ।

वे मालिनी के पास वापिस आए, उसके मस्तक पर चुम्बन किया। वे उसके पास बैठ गए। ध्यान मग्न हो गए और मालिनी ने अपना सिर एक ओर मोड लिया ।

मालिनी का सकेत ही शास्त्री के लिए एक तरह की आज्ञा होती थी, पर इस बार शास्त्री ने उसके सकेत की परवाह न की और सम्मान स्वीकृत न किया। हो सकता है कि उन्होने अपने शारीरिक मोह से ऊपर उठकर, उसके पाश से अपने को मुक्त कर लिया हो, और अपने मे प्रेरणा के स्रोत पा लिए हो ।

० ०

इस्पाती आदमी

वे सडक की बगल मे, बिजली के खम्भे के नीचे, नुमाईश के मैदान के पास खडे थे। शाम होने के बाद, चान्दनी हो या अमावस, वे वहाँ आ जाते है, मानो मानवता के प्रवाह को निहारने।

उनकी आन-शान, ऐंठ, अकड, कुछ अजीब-सी थी। वे कुछ-कुछ विचित्र लगते थे। बढ़ी दाढी, अजीब से जमी जमाई मुस्कराहट, गढ़ा-सा चेहरा, प्रभावशाली व्यक्तित्व।

क्या वे नुमाईश देखने आते है? उनकी तरह के लोग प्रायः नही आते। अगर आते भी हैं, तो क्यो नही नुमाईश के अन्दर जाते? क्यों फाटक के पास ही शोर-शराबे में खड़े रहते हैं? उनको क्या शोर पसन्द है?

उनको देख कर कुतूहल जगता तो है, पर शान्त नहीं होता। वे प्रतिष्ठित जान पडते हैं। जो इतने बूढ़े हो—वे साठ से तो ऊपर लगते ही थे, बाल सन हो चुके थे, यहाँ तक कि भौहे भी सफेद होने लगी थी, कैसे हमारे समाज में अज्ञात रह सकते है?

हर रोज वे ठीक उसी समय आते हैं, ठीक उसी तरह की पोशाक मे, ठीक उसी जगह, मानो वे वर्दी पहने कोई सरकारी ताबेदार हो, उनको देखकर आश्चर्य होता था।

एक दिन मैं अपना कुतूहल काबू न रख सका। मैं उनके पास जा खड़ा हुआ। मैं जानना चाहता था कि वे क्यों वहाँ. इतने नियमपूर्वक आते थे और क्यों इस प्रकार गम्भीर हो खड़े रहते थे।

"नमस्कार,"

"नमस्कार,"

"क्या आप किसी की इन्तजार मे हैं?"

"नहीं।"

मैंने सोचा था कि वे मेरा संकेत समझेंगे, और बातचीत चालू कर देंगे। पर ऐसा लगता था कि एक अजनबी से बात करना उनको पसन्द न था।

"यहाँ पडोस मे रहता हूँ। क्या आप भी यहीं रहते हैं?"

"हाँ,"

"हम अब तक क्यों नही मिल पाए? मिलना चाहिए था।"

"हाँ, शायद, मुझे नही मालूम।"

"क्या आप टहलना न चाहेंगे?"

"नहीं, मुझे खडे रहना ही पसन्द है। चलने की जरूरत नही है। इस उम्र में अच्छी सेहत रखना शायद मेरी कमजोरी है।" वे मुस्करा दिए।

"क्या आप इस शोर से बाहर न होना चाहेंगे?"

"शोर तो बहुत दूर तक है। इससे नही बचा जा सकता।"

मैं यह देख खुश था कि वे बातचीत के लिए कुछ-कुछ राजी हो रहे थे।

"शायद आपको यह शोर नापसन्द नही है।"

"मुझे कुछ भी नापसन्द नही करना चाहिए, हमे अपनी सहनशक्ति पर यूँ दबाव नही डालना चाहिए। मैं नही जानता। और कोई रास्ता भी नही है। मुझसे कहा जाता है कि हमें सब बातो का आदी हो जाना सीखना चाहिए, मुझे नहीं मालूम कि मैंने यह काफी सीखा है कि नही। जब मैं औरों के साथ चलने की कोशिश करता हूँ, तो मुझे लगता है कि मैं सही रास्ते पर नही जा रहा हूँ। मुसीबत तो यह है कि मैं दूसरों के कहने पर कुछ भी तो नही कर पाता। खैर, शायद मैं ज्यादह बातें कर रहा हूँ। मुझे आपको नही रोकना चाहिए। आप नुमाईश देखने आए है न? समाज और उद्योग की कामयाबी देखने आए हैं न?"

"नही, मुझे कोई दिलचस्पी नही है।" मैं जान सकता था कि 'मुझे नही मालूम' के मुखौटे के पीछे एक पक्का पथराया हुआ-सा आदमी था।

"देखिए तो इस जन प्रवाह को, कैसे भवराता अन्दर आ रहा है। वे नुमाईश देखना इतना नही चाहते जितना कि ऊब से भरी अपनी रोजमर्रे की जिन्दगी से भागना चाहते है। यही तो जिन्दगी है। हम भागते जाते है, और यह नही जानते कि किधर भाग रहे हैं। हम यह भी नहीं जानते कि हम एक चक्कर में चाबी वाले खिलौने की तरह भाग रहे हैं। यही शायद जिन्दगी है। मुझे

नही मालूम।"

मै यह टिप्पणी सुनकर चौंका। मैं अनुमान कर सकता था कि वे अपने असली विचारो को छुपाने की कोशिश कर रहे थे। वे उतने भोले-भाले शायद न थे, जितने कि दिखाई दे रहे थे। मैंने कहा,"आपका कहा बिल्कुल ठीक है।"

"ओह. आप तो टहलने निकले थे न ? हो आइए, मुझे आपको रोकना नही चाहिए।"

मैंने सोचा कि मेरी प्रशंसा उनको पसन्द न थी। नक चढ़े अक्सर यह पसन्द नही करते। न वे किसी की तारीफ करते हैं, न अपनी ही सुन पाते है।

"मैं यहीं रहता हूँ, तीसरी गली मे, बडी सड़क के पास, मेरा अपना मकान है।"

"ओह," वे गुर्राए। मैं समझ गया कि अपने घर का जिक्र करके मैं कुछ अशिष्टता कर बैठा था। "मैं कालेज मे पढ़ता हूँ" मैं अभी कह ही रहा था कि वे फिर गुर्राए। साफ था कि मैंने फिर शिष्टता का उल्लंघन किया था। मैं 'डीग' मार रहा था। और उन्होने अपनी 'गुर्राहट' से मानो यह कह भी दिया था। मैंने अपने को सम्भालते हुए कहा, "कभी आइए न। हमेशा आपका स्वागत है।"

"धन्यवाद।"

इस तरह उनसे मेरी पहली मुलाकात शुरू हुई, और खत्म हुई। और मैं उनके बारे मे जितना पहले जानता था उतना ही उनसे मिलने के बाद भी जान सका—यानी कुछ भी नही। और वे मेरे बारे मे सब कुछ जानते थे और जान कर कदाचित बिल्कुल प्रभावित न थे।

मैं सड़क पर भीड़ मे से चलता गया, पर मेरे मन मे उनकी बातें बुलबुला रही थीं। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे वे मेरे साथ चले आ रहे हो और चेहरा उसी तरह बिचका रखा हो, जिस तरह पिताजी बचपन मे मेरे डीग मारने पर बिचका दिया करते थे।

उस व्यक्ति मे सचमुच विशेष आकर्षण था; शालीनता आत्मकेन्द्रित गम्भीरता। साफ था कि वे कोई धनी न थे, होते तो वे भला वहाँ क्यों खड़े होते। पर उनको देख कर आसानी से अनुमान किया जा सकता था कि उन्होने कभी अमीरी देखी थी। जमीदार घराने के लगते थे। थोड़ी-सी बातचीत हुई थी, इसलिए मेरी उत्सुकता और बढ़ गई थी।

मैंने शाम की इन्तजार में सारा दिन काट दिया और जब शाम आई तो मैं उसी तरफ गया जहाँ वे खड़े होते थे, और वे वहाँ बिजली के खम्भे के नीचे खड़े भी थे। हाथ में छड़ी थी। वे उस पर झुके हुए थे, और मोटे चश्मे में से सामने देख रहे थे।

"नमस्कार,"

"नमस्कार,"

"कैसे रहा दिन ?" मैंने बातचीत शुरू करनी चाही।

"कोई फर्क नहीं, हमेशा की तरह ही रहा।"

उनको बातचीत में खींचना आसान न था। वे शायद स्वभाव से मिलनसार न थे।

"आइए, चाय हो जाए।"

"काश, मैं कोई ऐसी जगह जानता जहाँ आपको मैं चाय के लिए ले जा पाता।"

"वाह, आप हमारे घर पधारिए, यहीं पास ही तो है।"

"मैं यहाँ किसी की इन्तजार में खड़ा हूँ, आपको मेरी वजह से अपना टहलना नहीं खराब करना चाहिए।"

मुझे उन्होंने टका-सा जवाब दे दिया। पर मैंने बुरा न माना, क्योंकि उन्होंने बुरा न सोचा था। मैं आगे बढ़ा। पर मन पीछे खिंचता-सा लगता था।

मैंने वापसी में उनके साथ एक स्त्री को देखा। उनकी उम्र पचास से ऊपर होगी। सफेद साड़ी पहने थी। बड़ी गम्भीर थीं।

मैंने सोचा था कि जब मैं उस तरफ से गुजरूँगा तो वे मुझे बुलाएँगे, लेकिन उन्होंने बुलाया नहीं। मैं मुस्कराया, पर मुस्कराहट का भी उन्होंने कोई जवाब न दिया।

"मेरा टहलना खत्म हो गया है, अब तो साथ चाय हो जाए।"

"ये वही भद्र, पुरुष हैं, जिनका मैं जिक्र कर रहा था।" उन्होंने उस स्त्री की ओर सिर हिलाया। "कल हमारी मुलाकात हुई थी। ये कॉलेज में पढ़ाते हैं। इनका अपना मकान है यहाँ।"

"यहाँ आप क्यों चाय-वाय के बारे में तकलीफ करते हैं।" उस स्त्री ने कहा।

"तकलीफ की क्या बात है। आइए, आप दोनो पधारिए। मुझे खुशी होगी।"

"ये मेरी पत्नी हैं, और ये मेरे मित्र···"

"कुटुम्ब राव," मैंने अपना नाम स्वय से दिया क्योंकि उनके लिए जब तक मेरा नाम जान लेना सम्भव न था।

"आइए।" मैं आगे-आगे चला, और वे मेरे पीछे-पीछे चले आए।

"आपका वडा अच्छा मकान है।' उनकी पत्नी ने कहा।

"तो आपके पास स्टीरियो भी है ?"

"मेरा ख्याल था कि आपको शोर पसन्द है, और इसलिए ही आप नुमाईश के पास खड़े होते है।"

"शोर ? आपका कहने का यह मतलब तो नही कि ये सब यन्त्र शोर ही पैदा करते हैं ?"

सब हँसे। यद्यपि मैं उनकी बात का डक ताड़ गया था।

"आपके पास तो पुस्तकें भी काफी है।"

"आप भी क्या पुस्तको के शौकीन है ?"

"हाँ,"

"ये पुस्तकें लिखते है।" उनकी पत्नी ने कहा।

"मैं कोई जाना-माना लेखक नही हूँ। आपने मेरे बारे मे नही सुना होगा। मेरा लिखा बहुत प्रकाशित भी नही हुआ है। मैं वैसी चटपटी पुस्तकें भी लिख नही पाता हूँ, जिनके लिए पुस्तको के चटोरे तरसते है।"

"फिर रोजी-रोटी का सवाल कैसे हल होता है ?"

"ओह," वे उसी तरह गुर्राए, जिस तरह पहले गुर्राए थे। उनको शायद मेरा प्रश्न पसन्द न आया था।

"कितने सन्तोष की बात है कि आप अपनी लेखनी के द्वारा अपनी आजीविका बनाते हैं। मैं भी कभी सपने देखा करता था कि एक दिन आएगा, जब मैं भी एक लेखक बनूंगा। पर बन न पाया, यहाँ तक कि एक आलोचक भी न बन पाया।"

"कोई नही बनता, यह सारी जिन्दगी-भर चलने वाली प्रक्रिया है। एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमे निराशा है, विषाद है, असफलता है, निरन्तर सघर्ष है। नही

संघर्ष ही नही, रस्साकशी-भी । यह ससार का सबसे कठिन काम है । हमें अपना मन ही निचोड कर रख देना होता है ।"

"पर आप, उन भाग्यशालियों मे हैं, जो अपनी आजीविका लेखनी द्वारा करते हैं ।"

"आजीविका, मैं तो कोई नही करता । मैं तो लिखने के लिए ही तो जीवित हूँ । जब सब माल-मिल्कियत चली जाती है, तो आर्थिक बातें या तो बहुत मुश्किल लगती हैं, नही तो महत्वहीन हो जाती हैं । मैं तो हमेशा कर्ज से लदा रहता हूँ । अभी कर्ज़ मिल रहा है न ? क्यो ? मेरी पत्नी की वजह से घर चल रहा है। मुझे शर्मिन्दा होना चाहिए, पर हर कोई···ख़ैर···"

"हम दोनो को ही कुछ न कुछ करना होता है । मैं इनकी सहायता के बगैर निस्सहाय हूँ ।"

"क्या मैं जान सकता हूँ कि आप क्या करते है ?"

वृद्ध गुर्राए ।

"हम कशीदे का काम, कपडे पर पेंटिंग का काम करते हैं । हमारे यहाँ कुछ लोग इसी काम पर लगे हुए हैं ।

मुझे यह सुन कर अच्छा न लगा । शायद वृद्ध को भी यह पसन्द न था । वे खिडकी से बाहर देख रहे थे ।

"लेकिन यह तो लेखक है, यह कैसे आपकी मदद करते हैं ?"

"ये ही तो डिजाइन देते हैं, डिजाइन हो तभी तो कुछ किया जा सकता है ।"

"यह भी तो सृजनात्मक काम है, मैं उनका बहुत आदर करता हूँ, जो सृजनात्मक कार्य से अपना जीवन निर्वाह क ।"

"काश, हम निर्वाह पाते ! धन्यवाद ।"

"पर आप रहते कहाँ है ?"

"कोई ठीक-सी जगह नही है, हम तो उखडे-से लोग है कभी हमारा भी घर था, हमने उसे एक शिक्षणालय को दे दिया है ।" उनकी पत्नी ने कहा ।

"हम उसके रख-रखाव का खर्च उठा न सके । वह हमारी आमदनी के लिए बहुत बडा पड़ता था । इतने सारे कानून, और कुछ हमारी ही बुरी आदतें कि हमारे हाथ में उतनी जमीन न रही कि हम उस घर को पहले की तरह चलाते रहते । मुझे अफसोस है कि यह सब मैं क्यो कह रहा हूँ । यह किसी न किसी दिन

तो होना ही था। जो जीने के लिए मेहनत नही करते, वे कब तक किसी और की मेहनत पर आराम से रहेगे ? जमाना बदल गया है और बदलना ही चाहिए।"

"लेकिन आप कही न कही तो रह ही रहे होगे।"

"हाँ, हाँ, नुमाईश के मैदान मे एक पक्का बडा मकान है, उसी में हम रहते हैं। एक मित्र ने वह हमे दे रखा है। वह नुमाईश के लिए ही बनाया गया था और आजकल नुमाईश चल रही है। इस वजह से हम शाम वहाँ रह नही सकते। बहुत रात गए वापस चले जाते हैं।"

"ओह," मैं चौंका। अब मुझे मालूम हुआ कि वे क्यों नुमाईश के मैदान के पास खड़े रहते थे, पर यह अनुमान भी न कर पा रहा था कि वे रोज उस तरह घंटो कैसे खड़े रहते थे। ये आभिजात्य लोग बड़े जिद्दी होते हैं। अगर मैं उनको अपने घर मे रहने का निमन्त्रण भी देता तो वे आदतन गुर्रा देते। उनको यह हरगिज़ पसन्द न आता।

वृद्ध खड़े हुए और उनके साथ उनकी पत्नी भी। और दोनों कमरे में से बाहर निकल आए और इस तरह निकले जैसे सारी दुनिया को अपनी पीठ दिखा रहे हो। मैंने सोचा कि यह ऐसी जोडी थी, जो अपनी तरह, अपने खयालातों के मुताबिक ही रहेगी, नकलचियों को ऊटपटाग खयालातो के मुताबिक नही।

मैंने सोचा कि ऐसे व्यक्ति को एक मंच पर नुमाईश में रखा जाना चाहिए ताकि वे लोग निराश होकर अपने को, अपनी प्रतिभा को बेचने लगते हैं, इनको देख कर हौसला करें।

उनका नाम क्या था ? कुछ भी हो, उन जैसे व्यक्ति तो प्रतीक होते हैं, और प्रतीकों का कोई नाम नही होता।

विकाऊ नहीं है

वह इस तरह कदम उठा-उठाकर मटकती-मटकती चलती थी जैसे कोई नर्तकी हो। वह इतनी रोबीली, खूबसूरत, तन्दुरुस्त थी कि हर किसी की उस पर नज़र भटकती। उसका नाम था प्रभा।

वह रोज सवेरे-शाम हस्पताल आती, कभी-कभी सारा दिन वहाँ रहती, पिछले कुछ दिनों से रात-भर भी रहने लगी थी, वह एक ऐसे आदमी की सेवा-शुश्रूषा कर रही थी, जिसके पास नर्सें भी आने से डर रही थीं।

प्रभा फिल्मों में काम करती थी। कोई मशहूर सितारा तो न थी। लेकिन वह कभी बिना काम के न रही। वह पैसा लेकर लोगों को खुश करती थी और कितनों से ही उसका रिश्ता था।

उसको रोज आता-जाता और हस्पताल में रह जाता देख लोग उसके बारे में जानने के लिए उत्सुक हो गए थे। कुछ डाक्टर भी उनमें थे।

एक दिन प्रभा अपने पति को लाई। कद्दावर, हट्टे-कट्टे आदमी। पचास एक के होंगे। लेकिन बढ़ती उम्र की कहीं कोई निशानी नहीं। पोशाक सादी और साफ, प्रभावशाली व्यक्तित्व। वह उनको डॉक्टर के पास ले गई। "यह मेरे पति हैं।" उसने, डॉक्टर से उनका परिचय कराया।

"अच्छा? जो हमारे यहाँ मरीज है, क्या वे आपके भाई हैं? वे हूबहू आप जैसे ही हैं।"

"भाई?" प्रभा के पति मुस्कराये बगैर न रह सके।

डॉक्टर उनको एक तरफ ले गए। उन्होंने उनसे कहा, "वे ज्यादह-से-ज्यादह एक और सप्ताह के मेहमान हैं। उन्हें कैंसर है।"

प्रभा अपने पति को कार तक छोड़ आई। वह फिर वार्ड में आई तो तपाक् से डॉक्टर से पूछा, "क्या कोई उम्मीद नहीं है?"

"जी, नही, हाँ।" डॉक्टर से कोई जवाब देते न बना। वे पशोपेश में थे कि इस बीच कैसे उनको यह बता दिया गया था। "हमें कहना तो नही चाहिए, पर इस तरह की बीमारियों का इलाज बडी मुश्किल से होता है।"

"क्या मैं उनको किसी और बढिया बडे हस्पताल ले जाऊँ, वैसे आपका हस्पताल अच्छा है। डॉक्टर, डॉक्टर, पैसे की कोई बात नही है।" प्रभा डॉक्टर के बहुत नजदीक आ गई। उनसे वह काँपती हुई आवाज मे पूछ रही थी।

"मैं नही सोचता कि हस्पताल बदलने मे इनकी बीमारी ठीक हो जाएगी। फिर जिस हालत मे ये है, उनको बाहर ले जाना भी ठीक नही है।"

"अच्छा, अच्छा।" प्रभा शायद स्तब्ध रहती अगर पहले ही यह सुनने के लिए उसने अपने को तैयार न कर लिया होता, फिर भी उसकी आँखो में आँसू आ गए।

डॉक्टर उसको अपने कमरे मे ले गए। "उनका हम इलाज कर ही रहे है, और करते रहेगे।"

"तो मैं उनके घर वालो को तार दे दूँगी।" प्रभा ने आँसू पोंछते हुए कहा।

"आप इनकी लगती क्या हैं? अगर आपको कोई एतराज हो तो बताना कोई जरूरी नही है।

"वे मेरे मित्र है, बहुत अच्छे मित्र है।"

"मित्र?"

"हाँ, वे चाहते थे कि उनका इलाज मेरी निगरानी में हो, हालाँकि उनकी पत्नी और बच्चे यह न चाहते थे। एक आदमी, जिसको मुझे देखना तक मना था और हम छुप-छुपकर ही कभी-कभार मिल पाते थे वही, खैर, मैं ये सब बातें क्यों कह रही हूँ? आप शायद समझें भी न। मैं उनको नही छोड़ूँगी चाहे कुछ भी हो, हम जिन्दगी मे साथ-साथ न रह सकें, कम-से-कम, खैर, मुझे भावुक नही होना चाहिए।"

गम्भीर अभावुक डाक्टर भी अचम्भे मे थे, और वे अभी इतने पथराये न थे कि उनकी कहानी मे दिलचस्पी ही न ले।

"क्यों, वे जिन्दा नही रहेंगे? सचमुच? आप नही जानते कि जो भी कुछ आज मै हूँ, इनकी बदौलत हूँ।"

"लेकिन वे तो आपके साथ रहते भी नही हैं।" डाक्टर ने अपनी गरदन से स्टेथो स्कोप निकालते हुए कहा।

"अगर वे साथ रहते तो मैं वह गन्दा गांव छोड भी न पाती। वही सड़ती, और हर कोई हमें नीची नजर से देखता, जैसे हम कुछ हों ही न। तब मैं थी भी तो बहुत दब्बू—लक्ष्मण लकीर पर चलने वाली।"

"हूँ।"

"नही मालूम कहना चाहिए कि नही, कोई नही कहता है। पर मुझे इससे क्या ? मैं कोई भेद-भाव नही रखती। क्या प्रेम में भी कोई भेद हो सकता है ? क्या होना चाहिए ? खैर, आप जानते ही हैं शायद कि मैं बदनाम औरत हूँ। सांचे मे ढली हुई जिन्दगी नही है मेरी। मैं औरों की तरह नही रहती। मुझे इसका अफसोस भी नही है, बल्कि खुशी है। इनकी वजह से ही मेरी हिम्मत बनी और मैं दुनिया को दुनिया की नजर से नहीं देखती, अपनी नजर से देखती हूँ। मैं शर्मिन्दा नही हूँ। क्यों शर्मिन्दा होऊँ ?"

डॉक्टर को और भी अचरज हुआ। वह इस तरह बातें कर रही थी जैसे अपने जीवन के अनुभवो को निचोड कर निष्कर्ष के रूप में दे रही हो। उसकी स्पष्ट-वादिता से डाक्टर प्रभावित थे।

"कहते है, स्त्रियां बड़ा पवित्र जीवन बिताती हैं, पतियों को अपना सर्वस्व समर्पित करती हैं। मगर उनको यह नही मालूम कि प्रेम क्या चीज़ है। कर्त्तव्य प्रेम नही है। वैसे ही जैसे कि पूजा का कर्मकाड भक्ति नही है। मुझे बुरा, बदनाम समझा जाता है पर मैं जानती हूँ कि प्रेम क्या है, प्रेम पवित्र है, यह वह भावना है जो शरीर को पवित्र बनाती है।"

डॉक्टर अनुभव से जानते थे कि जब भावुक व्यक्तियो को सदमा पहुँचता है तो वे बातों में बह पड़ते है और बातें करते जाते हैं।

"आप सोचते है कि वे नही बचेंगे ?" प्रभा उसी बात पर फिर आ गई, जो रह-रह कर वह पूछती जाती थी। वह शायद और कुछ न सोच पा रही थी।

"हां, चमत्कार होते है, हम यही चाहते हैं कि इस रोगी के बारे मे भी हो। खैर, रात तो आपने यही काट दी थी, अब जाकर थोड़ा-बहुत सो तो लीजिए।"

प्रभा रोगी के पास जाकर, उसके बिस्तर पर बैठ गई। उनका चेहरा

सहलाया, तकिया चादर ठीक किया और फिर यकायक उठ कर चली गई।

o o o

डाक्टर अपने निश्चित समय से कुछ पहले ही चले आए और सीधे रोगी केशवराव के पास गए। वे अपने बिस्तर पर ऊँचे-ऊँचे तकियों के सहारे बैठे थे। चेहरा बिल्कुल पीला पड गया था। सूखी चमडी पपडी-सी बन गई थी। कही-कही काले-काले चकत्थे भी आ गए थे। उनके दाँत बाहर दिखाई दे रहे थे क्योकि मुख सिकुड़ गया था।

"वे अभी तक नही आईं ?" डॉक्टर ने पूछा।

"नही, पर हाँ वक्त हो गया है। रोज इस समय तक आ जाती थी, आती ही होगी। न मालूम क्या हो गया है ?" उनकी आवाज मे कुछ चिन्ता थी तो कुछ विश्वास।

"वह आपकी क्या लगती हैं ?"

"क्या लगती हैं, शायद कुछ भी नही, मगर सब कुछ। कभी कोई उससे अधिक आत्मीय मेरा न रहा—कोई मेरे उतना नजदीक नही है, जितना कि वह है।"

"वह कैसे ?"

केशव राव सम्भल कर बैठे। कन्धे ऊपर नीचे किए और इस तरह कहने लगे—जैसे इस प्रश्न का बहुत दिनों से इन्तजार कर रहे हों।

"हम लोगो का रिश्ता तो बहुत पहले ही शुरू हो गया था। तभी जब हम गाँव में थे और जवानी के पहले दौर मे। हम में जवानी जरा जल्दी आती है, क्योकि हमारे सामने वे समस्याएँ नही होती, जो उभरती जवानी को डस लेती है—यानि रोजी-रोटी की समस्याएँ। मुझे कई सारे एकड़ जमीन विरासत मे मिले थे।"

"हाँ, यह तो मैं भी जान सकता हूँ।" डॉक्टर यह कहते-कहते मुस्कराए और रोगी भी।

"आप शायद जानते ही हैं कि वह ऐसी जाति की है, जिसे अच्छा या प्रतिष्ठित नही समझा जाता। उसकी माँ हमारे गाँव मे एक ऐसे रईस की रखैल थी जिनकी जमीन गाँव में थी और वे रहते शहर मे थे। उन दिनों स्त्री भी तो एक प्रकार की मल्कियत ही थी।"

"हाँ, हाँ।"

"मेरे उसके जानने से पहले ही, प्रभा काफी दूर, शायद माँ के कहने पर ही, उसके कदमों पर जा चुकी थी।

"यानि उसके भी अपने यार थे ?"

"हाँ, मैं भी औरों की तरह उसकी ओर आकर्षित हुआ। मैंने उससे शादी करनी चाही। पर वह राजी न हुई। इसका मतलब यह नहीं था कि हम वह सब नहीं कर रहे थे, जो पति-पत्नी करते हैं।"

"हाँ, आप उन्हें घर देते, परिवार देते, खुशहाली देते, पर शायद उनको डर था कि आप जब ठंडे दिल से सोचते तो आप उन्हें चलता कर देते, और अपनी जाति की किसी मालदार औरत से शादी कर लेते।"

"खैर, मैंने तो कभी यह न सोचा था।" केशव राव ने कहा, और डॉक्टर अपने ओंठ इस तरह काटने लगे जैसे वे गलत साबित कर दिए गए हों।

"प्रभा भी मुझे चाहती थी, हम दोनों एक-दूसरे के दिलों में बस गए थे। वह इसके बाद औरों के साथ भी रही, पर तब भी मेरे बारे में ही सोचती रही। मैं नहीं जानता कि ऐसा क्यों हुआ। मैं भी उसके बारे में सोचता रहा, ऐसा लगता था जैसे हम दोनों एक-दूसरों के लिए पैदा हुए थे। लेकिन···।"

"ओह!" डॉक्टर ने इस तरह सिर हिलाया जैसे उनको इस पर विश्वास न हो रहा हो।

"मैं जानता हूँ, प्रेम और काम वासना बहुत हद तक साथ रहते हैं—घुले-मिले। कहने वाले चाहे कुछ भी कहें, उनका अलग अस्तित्व भी है। एक से प्रेम हो सकता है, और दूसरे से लगाव, आखिर मन ही तो है। जब मन एक को चाहता है तो शरीर किसी और के लिए तड़पता है। मेरा तो यही अनुभव रहा है। मैं अपनी पत्नी के साथ रहा। बच्चे भी हुए। पर मेरी पत्नी मेरे लिए प्रभा की एक शारीरिक प्रतिलिपि-सी थी। हो सकता है यह कोई मनोवैज्ञानिक रोग हो। मुझे नहीं मालूम।"

"हाँ, कभी-कभी यह होता है।"

"प्रभा मेरे प्रति कृतज्ञ है। इसलिए कि अगर मैं उससे शादी करने की ज़िद पकड़ता तो उसके लिए मुझे नाखुश करना मुश्किल होता। और मेरे साथ मेरी पत्नी के रूप में, पत्नी के कर्त्तव्य निभाना भी उसके लिए मुश्किल हो जाता

क्योंकि उसकी जिन्दगी ही कुछ ऐसी है कि पारस्परिक पत्नी होकर रहना उसके बस की बात नहीं है। यही नहीं, उसे उस गाँव में रहना पड़ता जहाँ उसे गाँव के लड़के दीमक की तरह खा जाते। उसकी कुछ अपनी अटपटी युक्तियाँ हैं। प्रेम पहले होता है, युक्तियाँ बाद में आती हैं। मुझसे शादी करने से इन्कार करके वह गाँव में रह नहीं सकती थी। वह यहाँ चली आई। हम दोनों दो जगह थे, पर हम अलग भी न रह सके।"

"जी।"

"यहाँ आकर उसको यह सब मिला जिसके उसने कभी सुनहरे सपने देखे थे। धन, घर, *काम वासना की पूर्ति और एक परिवार भी। आप जानते ही हैं,* वह शादी शुदा है। गृहणी है। उसके पाँच लड़कियाँ हैं। और वह सोचती है कि यह सब मेरी वजह से है।"

"जी।"

"पर लोग कहते हैं कि वह बुरी औरत है। क्या वह सचमुच बुरी औरत है? नहीं, कम-से-कम मैं तो यह नहीं सोचता।"

डॉक्टर मुस्कराए। हो सकता है कि इस बारे में उनके अपने कोई विचार ही न हों। वे भी यह सोच रहे हों कि अच्छी-बुरी बातें होती हैं, औरतें नहीं। कुछ भी हो, वह शीशे की तरह साफ थी। न अपने को छुपाने की कोशिश कर रही थी, न दूसरों को धोखा देने की—और यह अपने आप में बड़ी बात है।

"एक बार उसने मुझ से कहा भी। 'अगर मैं अपने शरीर को बेचती भी हूँ, तो मेरे मन में हमेशा एक ऐसी चीज है, जो कभी नहीं बेची जा सकती, मैंने बेची नहीं, वह बिकाऊ नहीं है, और उस चीज को मैंने तुम्हारे लिए रख रखा है।' शरीर बिकता हो, पर प्रेम नहीं बिकता है। और उसका प्रेम मुझे बराबर मिलता रहा। मैं भी कितना किस्मत वाला हूँ।"

"प्यार हो तो दूर और पास का सवाल ही नहीं उठता।"

"मैं जानता हूँ कि मैं मर रहा हूँ। पर मैं इसके हाथों में मरना चाहता था। इसलिए मैं यहाँ चला आया। हालाँकि न मेरी पत्नी, न बच्चे ही यह चाहते थे। मैं फिर भी चला आया।"

"हाँ।" डॉक्टर जानते थे कि मौत कैन्सर के रोगी के लिए शायद ढिंढोरा पीटती आती है। वे केशव राव के पास बैठकर और बतियाते यदि दम थाम

उनकी ओर आती न दिखाई देती। उसने बहुत ही चमचमाती, बडी जरीवाली रेशमी साडी पहन रखी थी। माथे पर बड़ा चमकीला सिंदूर का टीका लगा था। बालों पर चमेली के फूलों के गुच्छे लटक रहे थे। ऐसा लगता था जैसे वह मंदिर जा रही हो।

प्रभा को इस भडकीली पोशाक मे देखकर डॉक्टर को अचरज हुआ, क्योंकि वह अब तक सस्ती, मोटी, भद्दी साडी पहन कर आती थी। कोई साज-सजावट नही। कुछ नही। और अब गुडिया-सी बनी हुई थी। डाक्टर न समझ पाए कि आखिर बात क्या थी।

प्रभा आकर केशव राव के पास बैठ गई और उसके सिकुड़े हुए चेहरे को प्यार से चूमा। फिर आँखें बन्द कर ली। वह यूँ मौन, गम्भीर कुछ देर बैठी रही। डॉक्टर का अचरज बढा।

वह तीन दिन, रोज सज-धज कर आती, बढ़िया कपड़े पहनती। जेवर-जवाहरात पहनती। फूलों से शृगार करती। चौथे दिन केशव राव की मौत हो गई। और वह यकायक बदल गई।

उसने अपने विवाह का चिह्न टीका भी माथे पर न लगाया। बढिया साड़ियाँ छोड दी। सफेद साड़ी पहने, चूड़ियाँ तोड-ताड कर इस तरह रो रही थी, जैसे उसका पति ही गुज़र गया हो।

वह खुशमिजाजी, वह जान, वह उत्साह, चुलबुलापन, जिसके लिए वह मशहूर, या बदनाम थी, उसमे गायब हो गई थी। वह अपने को विधवा समझ रही थी। और लोग समझ नही पा रहे थे कि उसको क्या हो गया था।

○ ○

मय सूद के

डॉ० शेखर ने खँखारा। जोर से खँखारा। फाटक के सीखचों में से अन्दर झाँका। वे फिर सिर नीचे किए, कन्धे ऊपर-नीचे करते हुए, झिझकते-झिझकते घर के आहाते मे घुसे। घर के दरवाज़े पर लगी घंटी बजाई। लेकिन कोई जवाब नही आया। "कोई है ?" वे बोले।

एक कद्दावर, छरहरा लडका आया। उसकी आँखें चमचमा रही थीं। उसने डॉ० शेखर की ओर इस तरह आँखें गाड़ कर देखा, जैसे यह जानने की कोशिश कर रहा हो कि वे थे कौन। ठेट अजनबी तो नही है, चेहरा कुछ जाना-पहचाना-सा लगता है। हो सकता है कोई माँ से मिलने आए हो। उसने उनको अन्दर जाने दिया।

तब तक उसकी माँ बराण्डे मे आ गई थी। उनको देख वे एकाएक रुकी। चकित-सी, स्तब्ध-सी खड़ी हो गई। मुख मे बात तक न निकली। न डॉ० शेखर ही कुछ बोले। दोनों जमे-जमाए खड़े रहे।

कुछ देर बाद वह स्त्री बोली, "आप यहाँ कैसे भटक गए, आइए, उसने आपको कैसे आने दिया ? पधारिए, बुरा न मानें तो बताइए कि आना कैसे हुआ ? देखने आए है कि हम जिन्दा हैं कि नहीं ? देवन, कुर्सी लाओ न आपके लिए ? आप जाना तो नही चाहते ? शायद आपकी टैक्सी खड़ी होगी ? क्यों हम आपको याद आ गए ? कही कोई गडबड़ी तो नहीं हुई ?" डॉ० सावित्री कभी कुछ कहतीं तो कभी कुछ और। कभी स्वागत करती तो कभी व्यंग्य। कभी आगे जाती, कभी पीछे, जाने वह क्या सोच रही थी, क्या कह रही थी।

और डॉ० शेखर ऐसे खड़े थे जैसे कीलें गाड़ कर फर्श पर उनको जकड दिया गया हो।

"खाना खा लिया है न ? आप भला क्यों हमारे यहाँ खाना खाएँगे ?

जहर जो दे देंगे। कैसी है आपकी तबीयत ? सब ठीक है न ?—हाँ, ठीक तो नहीं मालूम होते—फिर, आप उस मशहूर डॉक्टर को छोड़कर, एक मामूली कस्बे की मामूली लेडी डॉक्टर के पास क्यों आएँगे ? आप गलत जगह पर तो नहीं आ गए हैं। अगर आप वापस चले गए तो मैं बिल्कुल बुरा नहीं मानूँगी, देवन, तुम क्या ताक रहे हो। नौकरानी से कह दो कि मेज पर खाना रख दे।"

देवन को अपनी माँ का व्यवहार समझ में नहीं आ रहा था। वे बड़बड़ा-सी रही थीं, अजीब-सी बातें थीं उनकी। आखिर बात क्या है ? कोई मरीज तो हैं नहीं ये। कहीं मरीज से इस तरह बातें की जाती हैं ? कौन है ? कोई भी हो, अजनबी नहीं है। खैर, हमें क्या, मैं नौकरानी से कह दूँ, और पिछवाड़े में चला जाऊँ।

डॉ० शेखर ने देवन को अन्दर के कमरे की ओर जाते देखा, जरा झुके, ताकि उसको वे और अच्छी तरह देख सकें। तब तक देवन पिछवाड़े में पेड़ों के झुरमुट में ओझल हो गया था—"अरे, बोल भी नहीं पाए और वह चला गया।" उनकी आँखें भर आईं। लम्बी साँस ली।

"तो यह है देवन ? है न ? काफी बड़ा हो गया है ? हाँ, बड़ा तो होगा—मुझे जानना चाहिए, लेकिन···।"

"आपको क्या पड़ी है जानने की, एक हम हैं कि पल-पल करके जिन्दगी काट रहे हैं। हाँ, देवन ही है। वह भी डॉक्टर है। डॉक्टर इन्टर्नी। अब तक आपके कदमों पर चल रहा है। है न ? अब तक तो ठीक है, पर आगे नहीं, कहीं ऐसा न हो कि वह आगे भी उसी रास्ते पर चला जाए जिस पर आप चले गए थे—और हाँ, खैर।"

"हम अभी भारत में हैं न ? ऐसे देश में जहाँ अतिथियों का आदर होता है। कम-से-कम बीमारों का तो लिहाज किया ही जाता है।" उनके काले होठों पर घुटी-घुटी-सी मुस्कान लहराई।

"तो आप रहिएगा ? आप तो बात के पक्के है, मेरे माँ-बाप की तरह नहीं, जो हमेशा मुसीबतों के साथ जूझे रहे, कभी इधर, कभी उधर। भले लोग, वे ही लोग, जिनको आपने कभी धूर्त्त, ठग, झूठा कहा था।" डॉ० सावित्री लाल पीली होती जा रही थीं। वे जिस हालत में थीं, वे अपनी जबान को काबू न कर पा रही थीं। न शिष्ट रह पाती थीं, न विनीत ही।

"आप नाराज़ हैं, नाराज़ होना ही चाहिए। और मुझे बुरा भी नहीं मानना चाहिए। आपका कहना ठीक है।" अभी डॉ० शेखर कह ही रहे थे, कि डॉ० सावित्री फूट पड़ी। सिसक-सिसक कर लम्बी-लम्बी आहे भरने लगी। आँसू झरते जाते थे। उन्होंने अपना मुंह एक ओर मोड़ लिया। आँचल से मुंह पोछा। शीशे के सामने गई। माथे पर लगी बिन्दी को ठीक किया। माँग में सिंदूर भरी।

वह जब भोजन कक्ष में गई तो डॉ० शेखर अपना भोजन करीब-करीब पूरा कर चुके थे। वह उनके बगल में जा बैठी। कभी ओठ भीचती, तो कभी भौंहें तानती—ऐसा लगता था कि किसी भँवर में फँसी हो।

"यह क्या है।" डॉ० सावित्री ने डॉ० शेखर के आँखो के नीचे गाल पर सूजे हुए पस वाले फोड़े को देखा।

"शायद यह किसी भयकर रोग की शुरुआत है।" डॉ० शेखर ने मुस्कराने की कोशिश की। क्या मुस्करा पाते उस हालत मे? डॉ० सावित्री ने उनको और ध्यान से देखा। "नही, आप ठीक नहीं मालूम होते। ठीक देख-भाल हो रही है न?"

"हाँ, हो ही रही है, भगवान चाहते तो इससे भी बदतर हालत हो सकती थी।"

"तो आप भगवान में भी विश्वास करने लगे है। ओह—क्या अच्छी बात है? अफसोस कि मै आपको अच्छा भोजन भी न दे सकी। क्या कोई फल लीजिएगा?" डॉ० सावित्री को एकाएक अपने कर्त्तव्यों का अहसास हुआ। "क्या आप आराम करना चाहेंगे। अतिथियो के लिए अलग कमरा नहीं है। आप देवन का कमरा ले लीजिए। वह अभी नहीं आएगा।"

"उसे तुमने आदमी बना दिया है—डॉक्टर, मुझे बहुत खुशी है, मुझे फक्र है।" डा० शेखर बहुत कुछ कहना चाहते थे। आवाज़ ने साथ न दिया। वह कँप गई। आँखें मिच गईं, जैसे कोई दुख निचोड़ रहा हो। वे अपनी पत्नी से चार आँखें न कर पा रहे थे।

"सब आपकी मेहरबानी है। मुसीबतों और दिक्कतों से भी भला हो जाता है। कई काम हम दिल पक्का करके करते है, जो उनके बगैर शायद न कर पाएँ। अब देखती हूँ तो लगता है कि आपने हमारा भला ही किया है। खैर, कसी है आपकी लड़की?"

"ठीक ही है। बाप की तरह बुद्धू नही है। माँ पर है।"

"ज़रूर कुछ हुआ है। अगर आप बताना न चाहे तो न बताएँ। मगर मैं यह पूछे बगैर नही रह सकती कि आप क्यों आए? अच्छा हुआ कि आप आए। मगर यह हुआ कैसे? कैसे आपने अपना प्रण तोड़ दिया?"

"किसी-न-किसी दिन तो आना ही था, मन पर रोज़-रोज़ बोझ बढ़ता ही जाता था, समझ मे नही आता कि तुमसे कैसे माफी माँगू।"

"आप ऐसी बात न कीजिए। मुझे अफसोस है कि मैंने आपका दिल दुखाया।" बड़ी मुश्किल से उन्होने अपने को काबू किया, नही तो ज़ोर से रो पड़ती।

"मैं सब कह देना चाहता हूँ। पछताता हूँ कि मैंने तुम्हारे पिता जी के साथ अच्छा व्यवहार नही किया। मैने उनको बहुत बुरा-भला कहा। घमण्ड मे जाने क्या-क्या कह गया। वे आज होते तो उनके पाँव पड़ता, और माफी माँगता।"

"पर यह सब काया पलट हुआ कैसे? आपका बरसों पहले चला जाना इतनी हैरत की बात न थी जितना कि आपका वापस आना। और इस तरह बदल जाना। ज़रूर कोई बात है, शायद आपकी निजी बात है, मुझे दखल नही देना चाहिए। लेकिन फिर भी, *क्या किया उस औरत ने? ऐसी बातें होनी ही* चाहिएँ, नही तो हम जैसो को भगवान सजा कैसे देंगे?"

"अब तो लगता है आप धार्मिक भी हो गए हैं?"

"हाँ, इतने धक्के खाए है कि कुछ-कुछ आध्यात्मिक अवश्य हो गया हूँ। मुझे धीरज रखना चाहिए, घबराना नही चाहिए। भले ही मूसल पड़े सिर पर।"

"सच कहूँ तो मैंने कभी न सोचा था कि आप वापस आयेंगे। मुझे खुशी है कि आप आए। क्या आपने उस वूमेन को छोड दिया है? उस मशहूर डॉक्टर को, आपकी होनहार विद्यार्थिनी को···आपकी मन चाही···खैर, जाने दीजिए।"

"अगर बातें कड़वी भी हो जाएँ, तो मुझे बुरा नही मानना चाहिए। अगर मैं तुम्हारी जगह होता तो *न मालूम मेरा क्या सलूक होता? पर उस आदमी को* मारने से क्या फायदा जो पहले ही धूल चाट रहा हो? डॉ० सावित्री, मे आपके पास दवा-दारू के लिए आया हूँ—ढाढस के लिए। अपनी गलतियाँ कबूल करने आया हूँ। आप कम-से-कम रहम तो खा ही सकती हैं···अभी···खैर।"

"माफ कीजिए मुझे। बहुत-सी बातें सड़ रही हैं मन मे—मै वेकाबू हो जाती हूँ, निकल जाती हैं वे। अगर मैं उनको थूक देती हूँ, तो आप समझ सकते हैं कि क्यों, काश•••खैर•••।"

"हर कोई जानता है, तुम भी जानती होगी, आजकल मेरा भाग्य ज़रा उल्टा चल रहा है। और जब से मुझे नौकरी से बर्खास्त किया गया है तब से तो और भी•••।"

"क्या आपको उस नौकरी से हटा दिया गया है, जिस पर आपको इतना घमण्ड था, जिसकी गरमी मे, न आपने समाज को कुछ समझा, न विवाह के प्रणो को ही, अपने सामने किसी को कुछ समझा ही नही। क्यो हटाया गया ?"

"ठीक ही हुआ, कभी-न-कभी तो सजा भुगतनी ही थी। कहने तो दो। मैंने सरकारी पैसे का गबन किया, और मैंने उसे उसको दे दिया जिसे तुम वह वुमेन कह रही हो ताकि वह अपना नया मकान बनवा सके। और भी कितने ही इधर-उधर के काम किए। गनीमत थी कि मुझे जेल नहीं भेजा गया।"

"ओह, यह आपका ही मकान है—यह हमारा मकान है, हमने एक-एक रुपया बचाकर इसे खरीदा है ताकि आपका लड़का जिन्दगी मे वह आराम पाए, जिसके लिए उसकी माँ तड़पती रही।"

"और जब मुझे नौकरी से निकाल दिया गया तो एक तरह से मुझे घर निकाला भी दे दिया गया। किसी को कुछ कहने से क्या फायदा, जब दोषी मैं ही हूँ। उसके बाद क्या हुआ होगा ? या होता रहा होगा, इसका तुम अनुमान कर सकती हो।"

"हाँ, हाँ, मैं अनुमान कर सकती हूँ। बड़ी बुरी गुजर रही है आप पर।"

"नशा ज्यादह दिन नही रहता, न मोह ही। दोनो ही कभी-न-कभी खत्म होते है। मुझे दुःख है कि तुम्हे मेरी वजह से दुःख हुआ।"

"आप क्यो फिजूल दुःखी होते है। मैंने कहा न कभी-कभी कष्टों से भी भला हो जाता है। आपने तो हमारा भला किया है। मैं ही अभागिन थी कि आपके साथ न रह सकी। पर आज मैं जो भी कुछ हूँ, आपकी वजह से ही हूँ। डॉक्टर हूँ, अच्छी खासी प्रेक्टिस भी है।"

"और मेरी तरह से नौकरी से निकाली भी नही गई हो।•••"

"अगर आप लड़के की परवरिश की जिम्मेवारी मुझ पर न छोड़ते तो मुझमे

न हिम्मत होती, न लगन, और न सब्र, और न मैं इसको आपकी तरह डॉक्टर ही बना पाती, न खुद ही बनती। हो सकता है, यह सब एक प्रकार का बदला ही हो, नही तो मैं भी उन अनगिनत औरतों मे होती जो सारी जिन्दगी रोती-रोती काट देती है, मारी-मारी फिरती है, जो औरो पर बोझ हैं, खुद अपने पर भार है। आपका न साथ था, न सहारा, मुझे खुद अपने पैरों पर खड़ा होना पडा। ताकि मेरा लडका कुछ बने। अव्वल मै खुद को ढाढस देना चाहती थी कि मै कोई ऐसी गई गुजरी चीज़ नही हूँ कि मैं महज़ इसलिए गली मे फेंक दी जाऊँ। चूंकि मेरे बाप के पास वक्त पर दहेज देने के लिए नगद रुपया हाथ मे न था। हां, उन्होने वचन अवश्य दिया था, और वे अपना वचन निभाते भी, अगर आप उनको कुछ समय देते। वे न झूठे थे, न ठग ही। हो सकता है कि यह सब आपका बहाना ही रहा हो·· चूंकि बात कुछ और थी,···खैर।"

"हाँ, मुझे यह जानना चाहिए था।"

"मैने कहा न कि आपने हमारा भला किया है। अगर मैं गिड़गिडाती आपके पास आती तो आप शायद मुझे भी रख लेते पर कोई भी स्त्री उस मर्द के साथ खुशी-खुशी नही रह सकती जिसके प्रेम मे और भी हिस्सेदार हों। सच कहूँ तो उन स्त्रियों में नहीं हूँ, जो आसानी से माफ कर देती है, एक गाल पर चपत खाकर दूसरा आगे कर देती है। मैं कोई देवी नहीं हूँ, बड़ी मामूली औरत हूँ।"

डॉ० शेखर सिर नीचा किए फर्श की ओर देखते जाते थे—जैसे मूसलो के आदी हो गए हो।

"जब आप हमसे दूर थे तो आप हमारे लिए एक तरह की चेतावनी से थे।···एक ऐसे व्यक्ति, जिनके साथ मैं होड मे थी। मुझे खुद तो आगे बढ़ना ही था, लडके को भी आगे ले जाना था। पर अब ऐसा लगता है कि हम पर ऐसी चोट लगी है, कि हम एकाएक लगडा गए है। मेरी मजिल ही आँखो से ओझल-सी हो गई है। जीने का कोई मतलब हो नहीं रह गया है। मै आपको जाने के लिए नहीं कह रही हूँ। आप रहिए, यह आपका मकान है। पर···" डॉ० सावित्री आगे न बोल सकी। गला भर आया, आवाज रुँध गई। आँसुओ की लडी लग गई।

डॉ० सावित्री उस कमरे मे खडी न रह सकी। चेहरा तो पहले ही लाल हो गया था, अब वह आँसुओं के कारण सूज भी गया था। बाहर की ओर देखा, कहीं

देवन तो वहाँ न था।

वे अपने कमरे मे गई, अलमारी खोली, उसमे से हाथी के दाँत की एक पिटारी निकाली और फिर वे अपने पति के पास गई।

"आज मेरे जीवन की परिपूर्ति हुई है। मैंने बहुत-सी अशिष्ट बातें कही हैं, अगर एक और कह भी दूं तो कोई बड़ी बात नही है। मैं यह जानना चाहती हूँ कि उस वुमेन ने जो आपसे 15 बरस छोटी थी, क्या दहेज दिया था कि आप उसके पास रहने लगे ? या दहेज सिर्फ आड ही थी। कुछ भी हो मुझे तो दहेज की बात लग गई। आप दहेज ही अगर चाहते थे तो किसी और धनी के पास जाते ··क्यो ?"

"क्या बताऊँ ? क्या जवाब हो सकता है। बेवकूफी की कोई कैफियत नही होती, न मोह का ही कोई कारण। सावित्री, मै तुमको समझ सकता हूँ, क्योकि मै अपने को समझने लगा हूँ।"

"इससे पहले कि आप अपना निश्चय बदल लें, और पलट जाए मुझे यह आपको देने दीजिए। यह ऐसी चीज है, जिसे मै बहुत साल से देने की सोच रही हूँ। आप इन्कार न कीजिए। लीजिए, इसमे मेरा दहेज है—वह दहेज जिसे मेरे माँ-बाप न दे सके। दहेज ही नही, साथ इसके सूद भी है। आप मुझे छोड कर चले गए थे। मैं भी आपको छोड देना चाहती हूँ। माफ कीजिए, मैंने कहा न कि मैं मामूली स्त्री हूँ·· कोई देवी नही हूँ।"

डॉ० शेखर ने डॉ० सावित्री को ऊपर से नीचे तक देखा। साँस बँध गई थी। आँखें लबालब भर आई थीं। आँखों के नीचे का फोडा भी फूट-सा गया था। वे मुश्किल से उठे और दरवाजे की ओर चले। डॉ० सावित्री, आँचल मे मुँह छुपाए, पिछवाडे की ओर देख रही थी।

देवन पिछवाडे से घर का चक्कर लगा कर, दरवाजे के पास आया "यह क्या, मरीज का बिना इलाज किए भेज रही हो ? आइए···"

"बेटा, मै मरीज नही···हाँ, हाँ···"

"बेटा देवन,···तुम ?" डॉ० सावित्री कुछ और न कह सकी।

"मेरी तुम्हें जरूरत न हो, पर मुझे तो है···बेटा···"डॉ० शेखर की आवाज खिंच गई।" मै कम से कम तुमको तो बेटा कह ही सकता हूँ।"

"मुझे आप दोनो की जरूरत है। आइए, अन्दर आइए।" माँ···आप कहाँ जा रही है, आइए न। हम सब डॉक्टर है।" ० ०

परीक्षण

डॉ० कृष्ण स्वामी विचित्र प्रकृति के थे। लोग उनको कवि-हृदय कहा करते थे, यद्यपि उन्होने कभी कविता न लिखी थी। न कभी किसी और की कविता ही गुनगुनाई थी। स्कूल में गणित मे तेज थे, कॉलेज मे विज्ञान में, और अब एक रसायनशाला में मुख्य कार्यकर्त्ता थे। अच्छा घराना था।

वे धुन के पक्के थे। जो सोचते वह करते, और जब तक उन्हें दूसरी धुन न सवार हो जाती, उसे करते जाते। गाहे-बगाहे अजीब सनक सवार होती, और उन्हे चैन न लेने देती।

विज्ञान का क्षेत्र वास्तविकता का होता है, पर वे हमेशा कल्पना के लोक मे विचरते रहते, ऐसी चीजों को कल्पना मे साकार कर लेते कि वे कभी-कभी भौतिक और काल्पनिक वास्तविकता को एक ही समझते।

चलते-चलते पेड़ो पर तरह-तरह के फूल देखते तो न मालूम क्यों उनको ऐसा लगता जैसे सैकड़ो स्त्रियाँ वेणी का फूलों से शृंगार किए एक साथ उनका परिहास कर रही हो। कहने का मतलब यह है कि वे हर चीज मे, कोई ऐसी खूबी देखते कि जो औरो को शायद न दीखती थी, यह उनकी अपनी खूबी थी।

एक समय था कि जब वे अपनी नौकरानी पर ही फिदा हो गए, फिदा क्या हुए, पगला गए, पतगा गए। और नौकरानी ऐसी कि भगवान ने मानो बचे-खुचे, टूटे-फूटे ठीकरो को मिल-मिलाकर, सौन्दर्य को चिढ़ाने के लिए, अगड़ाई लेते-लेते, उसे बना दिया हो। निहायत भोंड़ी, एक अंग सीधा नहीं। तिस पर सुरमई रंग। चाल-ढाल, हाव भी, सभी अजीब तरीके के। और वैज्ञानिक कृष्ण स्वामी उसके लिए महीनो अपनी नीद खोए रहे। और जब वह शहर छोड़ कर एक कसाई के साथ कही चली गई, तो कृष्ण स्वामी की विरह-वेदना का कोई ठिकाना नही रहा। छुपे-छुपे वे शायद कही बिलखे-रोए भी होंगे।

जब उनके एक साथी ने पूछा, "क्यों भाई, उस नौकरानी में ऐसी क्या चीज़ थी जो तुम्हारे लिए चुम्बक हो गई ?"

"अरे, भाई जब वह हँसती थी तो चेहरा ऐसा खिलता था जैसे कोई कमल हो, और उसमें मोतियाँ जड़े हों। सफेद चमेली के से दाँत···" कमल ने कहा।

सब अनुमान कर सकते थे कि वे उस नौकरानी के बारे में भी उसी तरह कई साल सोचते रहे होंगे जिस तरह एक वैज्ञानिक परीक्षण के बारे में। यह घटे काफी अर्सा हो गया है और इस बीच कृष्ण स्वामी एकतालीस-बयालीस के हो गए हैं। और अब एक नया पागलपन उन पर सवार है।

घर आते तो इस तरह मशगूल रहते जैसे पत्नी का घर में होना अखरता हो। दोनों में घुल-मिल कर ठीक से बातचीत भी न होती थी। उनकी पत्नी पार्वती ने वैज्ञानिकों की खब्तों के बारे में इतनी उड़ती-उड़ती बातें सुन रखी थीं कि वह भरसक पति को समझाने की कोशिश करती।

पार्वती अच्छी पढ़ी-लिखी थी, देखने में नाक-नक्श भी बड़ा खूबसूरत था गेहुआँ रंग। कद भी मंझला। सौन्दर्य ऐसा कि भटकती नजरें अक्सर उन पर आकर अटक सकती थीं। कृष्ण स्वामी की कुछ ऐसी उदासीनता थी कि वह सहज, क्षमाशील और शालीन हो गई थी। हो सकता है कृष्ण स्वामी उनका आदर करते हों। पर प्रेम ? प्यार ? कहा नहीं जा सकता।

पार्वती जानती थी कि वे कभी नौकरानी से उलझे हुए थे। उसे यह पसन्द न था, पर यह सोच कर उन्होंने मन ही मन तसल्ली कर ली थी कि कम से कम इस तरह ही वे कुछ रसिक हो जाएँगे। और उनको अपनी जिन्दगी में बहार आएगी। पर इस बीच कुछ का कुछ हो गया। कृष्ण स्वामी इस तरह खोए-खाए रहते कि उनकी पत्नी उनको ढाढस भी न दे पाती थी। वे अपने मुख से कोई कारण बताएँ तब न ?

घर हमेशा झुंझलाते आते। किसी काम में कभी कोई खास दिलचस्पी भी न दिखाते। छत ताकते बैठे रहते। बात-बात पर पत्नी को झिड़कते। शिष्टता से उनसे बात न करते। घर देरी से आते, और जल्दी चले जाते।

पार्वती अन्दाज़ कर सकती थी कि कोई मरज शुरू हुआ है। वे तो भाग्य को अपनी जिन्दगी सौंपे हुए थी, उनसे पूछ-ताछ कर वह उसे उलझाना नहीं

चाहती थी। रिश्ता नजदीकी हो, तो डर रहता है कि वह कहीं टूट न जाए।' कर्त्तव्य की भावना न होती तो न मालूम वह क्या कर बैठती।

कृष्ण स्वामी की रसायनशाला में एक प्रौढ़ा स्त्री थी—शीला। वह उनकी तरह कई वर्षों से वहां काम कर रही थी। अविवाहिता थी। उम्र करीब-करीब वही जो उनकी पत्नी की थी, पर उसमें न वह सौन्दर्य, न शालीनता ही, न आभिजात्य स्वभाव ही। उसमें कदाचित स्त्री सुलभ लज्जा भी न थी।

कृष्ण स्वामी का उससे परिचय तो काफी पुराना था। किन्तु घनिष्टता दो-तीन साल से ही शुरू हुई थी। घनिष्टता भी संयोग से ही हो गई। कोई परीक्षण कई दिन से चल रहा था, सवेरे से कृष्ण स्वामी रसायनशाला में थे। शीला भी थी। शाम हो गई, पर परीक्षण खत्म न हुआ। उसे बीच में छोडा भी न जा सकता था। बात समय की थी। वे दोनों कमरे में कुर्सियां घसीट कर बैठ गए। और बतियाने लगे।

कृष्ण स्वामी स्वभाव से शायद बातूनी थे, पर परिस्थितियां ऐसी थी कि वे प्राय: चुप ही रहते, जान पहचान के भी अधिक न थे। वैज्ञानिक की जिन्दगी भी शायद परख नली की तरह सीमित है।

जब शीला ने एक गरम कप चाय सामने रखी तो वे उसकी ओर देखते हुए मुस्कराए, मानो कह रहे हों कि ठीक वक्त पर ठीक चीज़ मिली हो। "शुक्रिया" उन्होंने कहा।

शीला मुस्करा दी। "नो मेन्शन प्लीज" हो सकता है शीला की मुस्कराहट में कृष्ण स्वामी को नौकरानी की हँसी की झलक मिली हो, फिर थकान ऐसी कि इधर उधर की गप्प करने को जी चाहता था।

"हम दोनों को किसी ने देख लिया तो?" कृष्ण स्वामी ने आशंका व्यक्त की।

"सोचेंगे कि कोई एक्सपेरिमेन्ट कर रहे होंगे।"

'क्या एक्पेरिमेन्ट?"

"बायोलोजीकल एक्सपेरिमेन्ट," शीला ठहाका मार कर हँसने लगी और कृष्ण स्वामी उसको इस तरह देख रहे थे, जैसे वह किसी दिव्य संगीत की सुन्दर मूर्त रूप हो।

"एक अपने वैज्ञानिक थे, विज्ञान में तो उनका कम ही प्रवेश था, पर'''

वह कुछ न कहती।

कृष्ण स्वामी प्रायः अपनी कार में ही घर जाया करते थे, पर उस दिन कुछ देर बीच में पैदल चले, शीला को बस स्टैन्ड पर छोड़ कर कार में घर गए।

किस काम की वह शालीनता अगर उससे मन बहलाव भी न हो, पार्वती अजीब है, हमेशा चुप। खाना पीना देना क्या काफी है ? दो-चार बातें हों, दिल बहलाव हो, यह वह जानती ही नहीं है…और शीला…?

शीला का जो अवगुण था, वह उनको उस मूड में अपनी प्रकृति के अनुसार सगुण लग रहा था। वह बड़ी बातूनी थी, उसमें स्त्री सुलभ लज्जा न थी। सभी बातें नमक-मसाले करके सुनाती थी। वह पार्वती से ठीक विपरीत थी, शायद इसी लिए ही वह कृष्ण स्वामी के मन में घर कर गई थी।

उस दिन जब कृष्ण स्वामी खाने पर बैठे तो मुंह सुजाए रखा। बहाना कम सब्जियों का होना था, और वे पत्नी पर फिजूल उबल पड़े।

पार्वती ने कुछ भी न कहा, वह मुस्कराती रही, यह सोच कि थकान के कारण वे चिड़चिड़े हो रहे थे। पर जब वे यूं रोज ही गरमाने लगे, तो पार्वती भी ताड़ गई कि मामला क्या था, उस दिन से वह और भी चुप हो गई।

कृष्ण स्वामी रोज किसी न किसी बहाने शाम काफी देर तक रसायनशाला में ही रह जाते। कभी उनके साथ शीला रहती तो कभी न रहती। जब कभी रहती तो परीक्षण कम होते और बातें अधिक।

रसायनशाला में ही कितनी ही औरतें और कितने ही पुरुष, कितने ही उनके कारनामे, और उन कारनामों को लेकर कितनी ही चटपटी बातें। और शीला ऐसी बातें बटोरने में चुस्त। और कोई ऐसी बात न थी, जो वह अभिनय के साथ न कह पाती हो। ऐसी बातें, जो नीच से नीच औरत अपने मुख से निकालने में हिचकती है, वह इस तरह कहती थी जैसे वह कोई भौतिकी का घिसा-पिटा सिद्धान्त हो।

वह अपने अनुभव भी बताती। कैसे एक सहयोगी ने उसको सिनेमा ले जाने का न्यौता दिया था, और कैसे वह दफ्तर में भी किसी न किसी बहाने उसके इर्द-गिर्द मड़राते थे। कैसे एक और ने उसको खाने पर बुलाया था। एक ने तो प्रेम-पत्र भी लिखने शुरू कर दिए थे। एक और खुले आम भद्दे इशारे करता था। पर शीला ने बताया कि कभी उसने उनकी ओर देखने का भी कष्ट न किया था। बातचीत की बात तो दूर थी।

कृष्ण स्वामी यह जान सकते थे कि 'जिस पर इतने सारे लोग आँखें गाड़े हुए थे, अगर उनके साथ बात करती थी और उनके पास रह जाती थी तो जरूर वह भी उन्हें चाहती होगी।' इस विचार ने उनको शीला की ओर अधिक आकर्षित किया। वे उस पर बगला-से गए।

कृष्ण स्वामी शक्ल में खराब न थे। उम्र से भले ही अधेड़ हो गए हों। वे भले ही स्त्रियों के लिए तरसते रहे हों, पर उनमें किसी भी स्त्री ने कभी कोई दिलचस्पी न दिखाई थी। अब उनके साथ एक पढ़ी-लिखी औरत रहती थी। मन की बात कहती थी, उनकी मन की बात सुनती थी। ये सब बातें उनके छुपे 'अहं' को सहलाती-सी लगतीं। उनको इसकी फिक्र न थी कि दुनिया क्या सोचती है, और क्या नहीं सोचती है। वे शीला पर इस तरह दीवाने हो रहे थे कि विज्ञान के वातावरण से ही दूर लुढ़क रहे थे।

शीला भी रोज़ नया शृंगार करके आती, रोज़ नई साड़ी, नये गहने, नए रूप। कृष्ण स्वामी के सामने कभी पैर पर पैर रखती, तो कभी साड़ी ठीक करती, तो कभी पंखे के नीचे खड़ी हो जाती ताकि वक्ष दीखे। कभी कनखियों से उनको देखती, तो कभी मटक-मटक कर चलती। सभी ऐसी हरकतें कि कृष्ण स्वामी को लगा कि वह उन्हें चाहती थी।

वे अकेले थे कि उन्होंने कन्धे पर हाथ रख कर, उसके बाल संवार कर, उसके माथे पर चुम्बन किया। वह कुछ न बोली। "क्या यही चुम्बन करना था?" सिर्फ यही धीमे से कहा।

कृष्ण स्वामी ने सोचा कि शीला को उनके चुम्बन पर कोई आपत्ति न थी, पर स्थल पर थी। वे समझ गए कि वह इतनी समीप आ गई थी कि वह उनके साथ कहीं भी जाने को राज़ी हो सकती थी। कहाँ जाया जाए?

मद्रास से बाहर जाना मुश्किल। घर में बताना होगा कि कहाँ जा रहे हैं? भले ही पार्वती उनके होते, उनकी उपस्थिति के बारे में अचेत रहे, पर जब कभी उनको घर पहुँचने में देर हो जाती, तो सब जगह टेलीफोन करने लगती, हंगामा मचा देती। फिर भी उन्होंने एक दिन शीला से कहा, "चलो आज एनोर चलें।"

"एनोर?" वह कैसे? मेरे साथ तो मेरे माँ-बाप है, उनकी हमेशा निगरानी रहती है, फिर भी·····"शीला ने यह सब मीठी मुस्कराहट के साथ कहा। कृष्ण स्वामी को बुरा न लगा। उन्होंने सोचा कि यदि माँ-बाप की बला न होती,

शीला उनके साथ आने को मान जाती। अगर मौका ही न मिल रहा था तो शीला का उसमें कोई कसूर न था।

इस प्रस्ताव के बाद शीला कृष्ण स्वामी के इरादे भली-भांति समझ सकती थी। अगर उसको कृष्ण स्वामी का नजदीक आना नापसन्द था, तो वह उनको उसी समय दुत्कार सकती थी। डॉ० कृष्ण स्वामी के मन में यह बात पक्की हो गई कि शीला उनको चाहती है। कृष्ण स्वामी के दिल और दिमाग में शीला समा-सी गई थी। वह अपने स्वभाव से लाचार थे। दिन हो या रात, वे शीला के सपने ही देखते रहते। वह अगर दूर भी होती तो वे उसको पास समझते और कल्पना में वह सब करते, जो वे वास्तविकता में न कर सकते थे।

न घर में कुछ काम कर पाते, न दफ्तर में, न रसायनशाला में ही। उनके लिए सब जगह बस शीला ही शीला थी। मद्रास इतना बड़ा शहर है, बाहर जाने की जरूरत ही क्या है, इतने सारे होटल हैं, क्या नहीं होता उनमें? क्यों न शीला को वहाँ ले जाऊँ। घर में कह दूंगा कि काम पर बाहर जा रहा हूँ। स्त्रियों में न मालूम क्या शक्ति होती है कि वे मन की बात तुरंत ताड़ जाती हैं, पार्वती ताड़ गई तो? न मालूम क्या करे, ये गुम-सुम औरतें जब नाखुश होती हैं, तो जो न करें सो कम···?

सोचना-विचारना कृष्ण स्वामी का पेशा था, आदत थी, सोचते थे, वरना वे जिस मूड में थे, घर बार तो घरबार, जिन्दगी भी अगर गुल हो जाती, तो उनको फिक्र न थी। वे शीला पर पगलाए हुए थे। उनसे बहुत दिन न रहा गया। वे एक दिन शीला को होटल ले ही गए। शीला ने कोई आपत्ति न की। बल्कि उसने खुशी दिखाई, जैसे वह इस घड़ी की इन्तजार में हो।

कृष्ण स्वामी उसको अपनी कार में शहर के एक बड़े होटल में ले गए। शीला कृष्ण स्वामी से इस प्रकार सटी-सटी जा रही थी, जैसे वह उनकी बियाही हुई पत्नी हो।

जब वे कमरे में गए तो कृष्ण स्वामी कुछ हिचकिचाने लगे। शर्माए। वे पहली बार ही किसी स्त्री को होटल में गए थे। भले ही शीला को उन्होंने मन ही मन चाहा हो, पर उसको एकान्त में नजदीक से कम ही देखा था, और वह इस तरह बिना संकोच के चली आ रही थी कि शायद उसके मन में कहीं कोई शंका भी थी।

"आप इधर-उधर क्या देख रहे हैं ?" शीला ने आँखों को फेरते हुए कहा।

"कुछ नहीं, तुम्हें ही देख रहा था।"

"मुझे या अपने को मुझ मे ?" शीला मुस्कराई। "यानि आपका वह हिस्सा, जो आईने मे नही दिखाई देता है।"

"हाँ, हाँ, मैं तुम्हारा मतलब जानता हूँ।" कृष्ण स्वामी ने शीला के कन्धे पर हाथ रखा।

"पर वह हिस्सा तो यहाँ है।" शीला ने मुस्कराहट के साथ, नजरो से, अपने वक्ष की ओर इशारा किया। कृष्ण स्वामी ने वहाँ भी हाथ सरकाया, शीला ने कुछ भी न कहा।

फिर वह एकाएक झेंपी, "अगर किसी ने देख लिया तो···?"

"हूँ," कृष्ण स्वामी कुछ सोचते हुए, दरवाज़े की ओर देखने लगे।

"आप बड़े अच्छे है, बड़े सीधे-सादे।"

"हूँ,"

"इसलिए आपके साथ आने मे किसी को कोई ऐतराज नही होना चाहिए।"

"तुमको कैसे मालूम ?"

"यह जानने के लिए माइक्रोस्कोप आदि की कोई ज़रूरत नही है।" शीला हँसी। कृष्ण स्वामी उसके पास सरके। बदन से बदन सटा कर बैठे ही थे कि दरवाज़े पर दस्तक हुई। कृष्ण स्वामी चौंके।

"अगर आप बुरा बनना भी चाहें तो ये लोग आपको बुरा नही बनने देंगे।" "शीला ने अपनी साड़ी सम्भालते हुए कहा।

बेरा खाने की चीज़ें रख कर बाहर चला गया। कृष्ण स्वामी फिर शीला के पास जा बैठे। "लगता है, आप तो मुझे ही खाने की कोशिश में हैं, पहले खा तो लीजिए।" शीला मुस्कराती-मुस्कराती उनको चिढ़ा रही थी। पर कृष्ण स्वामी उससे छेड़छाड़ करते जाते थे, जैसे किसी ने उनको चेतावनी दे दी हो। "आप···" शीला कुछ कहना चाहती थी कि कृष्ण स्वामी की आँखें देख कर चुप हो गई। और कृष्ण स्वामी भी उसका चुम्बन करके बैठ गए।

"मैंने सोचा था कि होटल खाने-पीने के लिए आया जाता है।" सीला ने कहा।

"हूँ,"

"हम दोनों मित्र हैं।"

"मैत्री दर्शाने का मनुष्य को यही साधन प्राप्त है।" कृष्ण स्वामी ने उसका आलिंगन कर लिया। शीला का आपत्ति करना तो दूर उसने कृष्ण स्वामी को गले लगा लिया।

"अच्छा तो अब चाय लीजिए।" शीला ने चाय उड़ेली। "मैं सोच रही थी कि मैत्री जताने के लिए क्या यह सब जरूरी है, मैत्री तो बिना जताए भी मालूम हो जाती है।" शीला कह रही थी, और कृष्ण स्वामी न समझ पा रहे थे कि उसका मतलब क्या था। कहीं वह बुरा तो नहीं मान गई है?

"अगर आप अपनी मैत्री जताने के लिए यहाँ लाए थे तो···"

"तो क्या?" कृष्ण स्वामी के मन की पहेली और उलझी।

"कुछ नहीं, तो मैं कोई और दिन चुनती···" शीला मुस्कराई। और कृष्ण स्वामी ने अपना हाथ उसके हाथ में रख दिया। और अपने को धिक्कारा कि क्यों वह पसोपेश में थे।

"वह क्यों?"

"आज ज़रा मैं ठीक नहीं हूँ, यूँ ही···" शीला ने कहा।

"क्या मूड खराब है?"

"नहीं मैं ही खराब हूँ।" शीला हँसी।

"तुम खराब?"

"इस लायक नहीं हूँ कि आप मैत्री दिखाने की कोशिश करें और मैं दिखा न पाऊँ,···न मालूम···।" शीला ने कहा।

"क्या बात है?"

"मैंने कहा न था कि आप बहुत सीधे सादे हैं।"

"क्या?"

"यानि आप जानते ही नहीं हैं, महीने में पाँच-दस दिन स्त्रियों के ऐसे कटते हैं कि लोग उन्हें छूते भी नहीं हैं।"

"हाँ,"

कृष्ण स्वामी का मूड ही बदल गया। उसने सोचा कि शीला को एतराज नहीं है, अगर वह ठीक होती तो···। उनको तसल्ली हो गई कि वह उनको नापसन्द न थे, और यह सोच उनका मन बल्लियों उछलने लगा। चुपचाप

दोनो ने खा-पी लिया और अंधेरा होने से पहले पी अपने-अपने घर पहुँच गए।

मुँहफट औरतों का आकर्षण कुछ ऐसा है कि वे कभी भाती हैं तो कभी उनसे चिढ़ होती है। यह शायद इसलिए कि जिस मूड में आदमी उनको पसन्द करता है, उस मूड मे वे ज्यादह देर नही रहती। कृष्ण स्वामी भी कभी-कभी सोचते कि वे किस औरत के साथ जा फँसे थे। पर लाचार थे।

अगर पार्वती वैसी होती जिस तरह वे चाहते थे, शायद वे तब भी मानसिक दृष्टि से भटकते। वह तो संगमरमर की मूर्ति सी थी, कोई दोष नही, पर कोई आकर्षण भी नही। ऐसी तो कतई नही, जिसके साथ मन के मुताबिक मनोरंजन किया जा सके। और जब से वे शीला के और नज़दीक होते जाते थे तो वे पत्नी से भी दूर होते जाते थे, पहले चिढते चिढ़ाते रहे फिर इस तरह चुप्पी साध ली, मानों बुरी तरह जम गए हों—एक दूसरे की तरफ पीठ करके दीवारों से बात करने लगते थे। पार्वती सहती जाती थी।

उनका सारा काम चौपट था। चैन हरिण थी। दिन बीतते जाते थे, नजदीकी के होते हुए भी, दूरी बढती जाती, तड़पन बढती जाती, शीला पास बुलाती और पास आते ही, उन्हें दूर भी कर देती। उसका व्यवहार कृष्ण स्वामी के अभिमान के लिए चेतावनी सा होगा। कर्मठ आदमी थे, प्रारम्भ करके कोई बात बीच में छोड़ देना उनकी शिक्षा और स्वभाव के विरुद्ध था।

कई मौके ऐसे भी आए जब वे सोचते—क्या झमेला पाला है, अच्छी बीमारी मोल ली है, उच्छिष्ट के लिए मैं जीभ लटकाए फिर रहा हूँ। जो हर किसी की हो, वह किसी एक की नही होती, और जो किसी की हो ही न सके, उसकी छाँह के पीछे भागना ही क्यों? यह सोच कृष्ण स्वामी उससे कई दिन बातें न करते, अगर वह कही दिखाई भी देती तो नजर बचाकर चले जाते, पर मन की बेचैनी बढती ही गई।

अगर कृष्ण स्वामी शीला को देख भी न रहे होते तो भी वह आखों में समाई हुई होती, जो वह प्रत्यक्ष नही कर पाते थे, मन ही मन कर लेते थे,। इससे सन्तोष का होना अलग, असन्तोष बढ जाता, प्यास और बढती, विचार तृष्णा को ईंधन देते से लगते।

वैज्ञानिक थे, अवास्तविक को भी वास्तविक करने का भरोसा रखते थे। आज जो वास्तविक है, कभी वह अवास्तविक ही तो था। और यह सब वैज्ञानिकों

ने ही तो किया है, वह शीला की अनुपस्थिति को भी वास्तविक उपस्थिति समझते थे, अगर शीला न होती तो वह शायद अपने को इस तरह समझा भी लेते।

शीला भी, चाहे वह कुछ भी करे, करती—किसी से भी मिलती जुलती हो मगर उसकी नज़र कृष्ण स्वामी की ओर ही रहती। कभी-कभी भटकती-भटकती उनके सामने से निकल जाती तो कभी कनखियों से देखती तो कभी मुस्कराती, कभी बात किसी और से कर रही होती, पर लगता ऐसा था कि कृष्ण स्वामी के सुनने के लिए ही कह रही हो।

उसकी हरकतें देख कर कृष्ण स्वामी को लगा कि वह उसको चाहती थी। वह चाहती ही तो थी, उसने कभी कुछ ऐसा नही किया जिससे यह अनुमान भी हो सके कि कृष्ण स्वामी उसे नापसन्द था। वह समझ नही पाती थी कि क्यों कृष्ण स्वामी उससे रूठ जाते थे। फिर खुद को समझाती कि वैज्ञानिक है—यह भी कोई मूड होगा।

कृष्ण स्वामी के मन मे ये ही बातें एक और तरह से बल खाती। यह भी क्या नैतिकता है कि औरत किसी को चाहती हो, और बिना उसके किसी कसूर के उससे बोलना बन्द कर दिया जाए। उसके साथ आना जाना बन्द कर दिया जाए। नैतिकता तो नैतिकता, यह अमानुषिकता है।

वे दोनो कही बराडे मे मिलते, आखें चार होती, कुछ इशारे होते, और रसायनशाला से सब के चले जाने के बाद वे दो ही रह जाते, और फिर उसी तरह चोचले बाजियाँ होती जैसे कुछ हुआ ही न हो।

कृष्ण स्वामी जब अपनी चुप्पी के लिए माफी माँगते तो शीला जोर से हँस पडती—" मैं अगर वैज्ञानिकों को नही समझूँगी तो और कौन समझेगा ?" यह कह उसने कृष्ण स्वामी का सिर अपने हाथों में इस तरह ले लिया जैसे वह कोई बच्चा हो। उनको रोमाच हुआ, शीला उनको देवी-सी प्रतीत हुई। कभी भी तो पार्वती ने इस प्रकार नही किया था।

वे दोनो एक रेस्तराँ मे गए। कृष्ण स्वामी इतने पुलकित थे कि उनका व्यवहार वहाँ ऐसा रहा जैसे वे दोनो विवाहित हो···बहुत ही शिष्ट, संयत। शीला ही उनसे सटकर मीठी-मीठी बातें कर रही थी, खुश करने की कोशिश कर रही थी···जाते-जाते एक चुम्बन के साथ यह भी कहती गई—"इसका मतलब यह नहीं है कि तुम मौके बे मौके नाराज़ हुआ करो···" वह हस दी।

एक दो दिन बाद, कुछ ऐसा संयोग हुआ कि पार्वती को किसी संस्कार के लिये अपने भाई के घर जाना पडा । कृष्ण स्वामी भी उसके साथ जा सकते थे, पर गये नही, कहा कि रसायनशाला में बहुत काम था, फिर अपने पर हँसे भी कि क्यों आदमी छोटी-छोटी बातों पर झूट बोलता है ।

पार्वती को घर मे न पा, कृष्ण स्वामी और शीला एक दो बार महाबलिपुर गये, साथ खाया-पिया, कोई ऐसी बात न थी जो लज्जावश या संकोचवश शीला ने न कही हो—मनुष्य के बर्ताव जो नितान्त गोप्य समझे जाते हैं, उसके लिये भौतिकी के सिद्धात से थे, जिनकी हर कोई व्याख्या कर सकता है । बातों-बातों में, ऐसी कितनी ही बातें हुईं, जिनको सुनने-सुनाने के लिये कृष्ण स्वामी तरसते आये थे, और कभी पार्वती से सुन न पाये थे । अश्लील बातें ।

कृष्ण स्वामी ने जब नीले समुद्र में से रजत कलश की तरह चन्द्रमा को उगते देखा, वह कवि हृदय, जिसे वैज्ञानिक शिक्षा भी काबू न कर पाई थी, चचल हो उठा । उन्होंने शीला का आलिगन किया, उसके साथ रेत पर सटे-सटे लेट गए । जब बात ज़रा आगे बढी तो शीला ने कहा, "क्या यह सब हमे यही लुके-छुपे करना होगा—जानवरो की तरह ?" शीला कहती-कहती जोर से हँसी । कृष्ण स्वामी भी उसके साथ हँसे । इशारा अच्छा था भले ही वक्त पर नहीं आया हो । उन्हे ऐसा लगा कि कौर मुख मे रखने को हो, और उसमे किरकिरी आ मिली हो ।

"हम मनुष्य है,···मनुष्य की तरह ही, अगर ज़रूरी समझें तो—आपने कभी सोचा कि सभ्यता भले ही कितनी बढ गई हो, पर प्रेम जताने का तरीका वही है, जिसे आदिम पुरुष या स्त्री ने अख्त्यार किया था,—आंक लीजिए मानव की प्रगति···", शीला ने हँसते हुए कहा ।

"तुम्हे मालूम है कि तुम्हारे दाँत चाँदनी की तरह चमकते है ।"

"मुझे शायद चांद को अपनी 'चाँदनी' नही दिखानी चाहिए ।" शीला साड़ी झाडती हुई उठ खडी हुई । कृष्ण स्वामी भी उसके हाथ का सहारा लेकर उठ खड़े हुए और इधर-उधर की गप्पें मारते घर चले गए ।

वे शीला को अपने घर रोक सकते थे, पार्वती जो न थी । नौकर ने अगर उसके कान मे कुछ फूंक दी तो···या पड़ोसियो में ही कानाफूसी शुरू हो गई तो···? फिजूल का झमेला है ।

उन्होंने सोचा कि यदि शीला उनको निमन्त्रित करेगी, तो वे उसी के घर रह जाएँगे, पर शीला ने निमन्त्रण नहीं दिया। इशारों में तो वे स्त्रिया बातें करती हैं, जो साफ-साफ कहने में हिचकती हैं; शीला उन स्त्रियों मे थी, जो स्त्री सुलभ लज्जा से भी ऊपर होती हैं।

दो चार दिन कृष्ण स्वामी इसके बाद न मालूम क्या क्या हवाई किले या 'पुष्प कुज' बनाते रहे। बेकरार हो गए। वे दोनों शहर के एक अच्छे शानदार होटल मे थे, एक कमरे में थे। केवल वे दोनों ही, और बाहर चाँदनी, जो दरवाजे से बाहर बन्द कर दी गई थी, क्योंकि शीला अपनी नग्न चाँदनी कृष्ण स्वामी को दिखा रही थी।

वे दोनो एक सोफे पर बैठे थे। कृष्ण स्वामी उनके पास गए। उन्होने कन्धा सहलाया, फिर कानों मे कुछ फुसफुसाया।

"अभी जल्दी क्या है, सारी रात पड़ी है, क्या और सब बातें खत्म हो गई है ?" शीला यह कहती, अपना मुँह कृष्ण स्वामी के इतने पास ले गई कि उन्होने शीला को सहसा चूम लिया। चुम्बन के बाद, कृष्ण स्वामी का हाथ उसके वक्ष पर गया तो शीला ने कहा, "स्त्रियाँ भिन्न होती है कि नहीं, मुझे नहीं मालूम, पर सभी पुरुष एक ही तरह के होते हैं। कई बिना लम्बी भूमिका के विषय पर आ जाते हैं'''जैसे वैज्ञानिक, भूमिका बड़ी होती हो, या छोटी, पर होती यह एक ही तरह की है'''विज्ञान के सिद्धान्त की तरह।" शीला इस तरह मुस्करा रही थी, जैसे उसने कृष्ण स्वामी का उसके वक्ष-स्थल पर हाथ रखना, सहलाना, बहुत पसन्द हो। लेकिन कृष्ण स्वामी का मूड एकाएक बदल गया। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ जैसे वह किसी और की वस्तु पर अनधिकार चेष्टा कर रहे हों।

उनके मन में विचारो की एक और शृंखला चल पड़ी।—"न मालूम इसको कितने पुरुषों ने देखा हो, न मालूम क्या-क्या किया हो। जैसे वह औरों के बारे मे कहती आई थी, मेरे बारे में भी अपने मित्रो मे कहेगी'''और'''" कृष्ण स्वामी के मन में जब ये बातें उठी तो वे शीला से कुछ दूर हट कर बैठ गए। वे आदत से लाचार थे, एक बात जो बून्द की तरह शुरू होती, पूरी बारिश होकर ही खत्म होती। उनका मन कहीं और विचर रहा था।

शीला ने उनको बहुत दुलारा-पुचकारा, हर तरह से उकसाया, सब कुछ किया, कृष्ण स्वामी थे, बिल्कुल तटस्थ बैठे थे। आखिर शीला ने खीझ कर कहा,

"बस, यही, क्या इसी तरह प्रेम जताया जाता है, तुमसे तो संगमरमर की मूर्ति भली और"'कु कुम्वर।"

कृष्ण स्वामी ने अपने कपडे समेटे, और सिगरेट सुलगा कर कुर्सी पर बैठ गए। ""आई एम सॉरी।"

"तो तुम, सिर्फ बेजान टेस्ट ट्यूब हो"'" शीला ने तरेरते हुए कहा। उनमे कितनी भी घनिष्टता रही हो, पर वह पहली बार हो, आप से तुम पर उतरी थी और उस तुम में कितना बारूद था ? अगर कृष्ण स्वामी पर बिजली भी गिरती तो भी उनकी हालत इससे अधिक बुरी नही होती।

कृष्ण स्वामी खयाली दुनिया मे ही, मूर्छित से, स्तब्ध से, विचरते रहे, पागल से हुए, झुँझलाए हुए से, शर्मिन्दा। भगवान ही जानते है कि उन दोनों ने वह रात कैसे काटी। इतने दिनों बाद पास आए थे, और फिर इतनी दूर जा गिरे"'।

इसके बाद, कृष्ण स्वामी जो तब तक ज्वार देखने आए थे, भाटे मे सिकुडने लगे। पार्वती सगमरमर की ही सही, अपनी थी, गम्भीर मितभाषिणी ही सही, निर्लज्ज न थी। स्त्री थी, 'वस्तु' नही "जीवन सगिनी पत्नी थी, मन बहलाने की गुडिया नही। कृष्ण स्वामी को अपनी स्त्री को समझने के लिए इस कड़वे अनुमान की शायद आवश्यकता थी।

अब भी वे स्त्रियाँ देखते है, जिनकी हँसी मे चाँदनी होती है, पर वे अपने को अमावस मे ही अधिक सुरक्षित समझते है।

वे लम्बे अवकाश पर अपनी पत्नी के साथ कही चले गए थे। उनके साथ के वैज्ञानिक जो प्रकृति के रहस्यों को सुलझाने मे लगे हुए थे यह न जान सके कि वे क्यों छुट्टी पर, "'और शीला जीवन मे एक बार चुप थी।

० ०

विचित्र निश्चय

श्री राव ने स्वयं तो कभी न कहा था पर लोग कहा करते थे कि वे कभी क्रांतिकारी थे, और कई ऐसे वैमों का उन्होंने खातमा कर दिया था। पर उनको देख कर अन्दाज लगाना भी मुश्किल था कि वे कभी क्रांतिकारी रहे होंगे। मैं उनको तब से जानता हूं जब वे स्थानीय कॉलेज मे प्राध्यापक हुए थे।

वे बड़े गुमसुम से आदमी है—मौन प्रकृति के, निराडम्बर, गम्भीर, एकान्त प्रिय, आत्म केन्द्रित। लोग उनके बारे मे तरह-तरह की बातें सोचा करते थे, पर वे अपने बारे मे कभी कुछ न कहते। दर्शन के प्रकाण्ड पंडित। उनके अतीत पर मोटा परदा पड़ा था।

मैं उनसे प्रभावित था। दर्शन का विद्यार्थी था। हम लोग ज्यादह न थे। और जो थे भी उनमे शायद मैं ही उनके सबसे अधिक निकट था। उनके घर भी अक्सर आया जाया करता था और उनके व्यक्तित्व से उतना ही प्रभावित था, जितना कि उनकी विद्वत्ता से।

घर भी उन्होंने एक घने मोहल्ले मे ले रखा था, जहां गरीब, मरे-पिटे, लोग रहा करते थे। कोई उनको कजूस कहता, तो कोई दानवीर। इतनी बड़ी तन-ख्वाह पाते है और रहते ऐसे है जैसे खैरात पर गुजारा करते हों। और ऐसी जगह, जहां पढे लिखे नाक पर रुमाल रखे, छुपे-छुपे आते हैं, और लुके-छुपे चुप-चाप खिसक जाते है। रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व था उनका।

घर मे श्री राव अकेले रहते। जब मैं उनको जानने लगा था, तब उनकी उम्र कोई अधिक न थी, यही कोई तीस एक की। पर तभी वे विधुर हो चुके थे। सारा परवार खुद ही संभालते थे।

एक लड़का था, संदीप। बचपन मे ही उसको पोलियो हो गया था। उसकी उम्र पांच-सात की रही होगी। वह हमेशा बिस्तर पर पड़ा रहता। उसका हर

काम उसके पिता करते। वे उसके लिए खाना बनाते, खिलाते-पिलाते, पीठ पर उठाकर गुसलखाने ले जाते। उसको पढ़ाते, कहानी सुनाते, क्या नही करते थे वे ?

सवेरे से शाम तक उसी की देखभाल मे लगे रहते। घर से कॉलेज और कॉलेज से घर, कही कोई आना जाना नही। उनके पास आने जाने वाले भी कम। पास पैसा इतना, और हैसियत इतनी अच्छी कि वे लडके को किसी चिकित्सालय मे रख कर, दूसरी शादी कर सकते थे, और घर मे हर समय छाई उदासी से मुक्त हो सकते थे और अपनी जिन्दगी मे भी कुछ सुख ला सकते थे। लेकिन उन्होने यह नही किया।

वे अपने लडके के विस्तर के सिरहाने बैठ जाते, वही उनकी मेज लगी थी, उसी पर ढेर-सी पुस्तकें, वहीं अपना अध्ययन करते, और जब कभी लडके को कुछ जरूरत होती तो उसे पूरी करते। रात हो या दिन, वे हमेशा उसकी सेवा मे लगे रहते, जैसे चुपचाप कह रहे हो, जिस लडके ने इतना कुछ खोया है, उसे मैं उस सुख आनन्द से क्यो वचित करूँ जो मैं दे सकता हूँ।

सदीप जो मांगता उसके पिता देते। जो चाहता वे करते, उन्होने शायद उसको माँ की कमी भी कभी न अखरने दी। उनकी खुशी मानो इसी मे थी कि उनका लडका खुश रहे विस्तरे के आस पास खिलौनों के थम्बार थे, चित्रो की पुस्तको के ढेर थे, एक तरफ ग्रामोफोन रिकार्ड, दूसरी तरफ रेडियो, पलग के पास उसकी पहुँच मे, एक बेंच पर कितनी ही खाने की चीजें। कोई कमी नहीं। लड़का खुश मुस्कराता रहता।

क्या श्री राव के कोई रिस्तेदार वगैरह भी न थे जो उनके साथ रह सकते थे ? वे कहाँ के थे ? उनका खानदान कहाँ रहता है, क्या करता है ? इस सबके बारे मे भी कोई विशेष जानकारी न थी। और राव स्वयं कुछ न कहते थे।

सुना गया कि कुछ दिन उनकी बहिन उनके साथ रही। उनकी वे मदद करती, उनके लडके की देखभाल करती, और शहर मे पढ़ती-लिखती। पर जब श्री राव को मालूम हुआ कि उनकी मदद करने के लिए वे खुद अविवाहित रहना चाहती थी, तो उन्होने झट उनका विवाह कर दिया। अब भी कभी कभार वह आती हैं और पांच दस दिन रह कर चली जाती है।

बहिन कोशिश कर रही थी कि श्री राव फिर शादी कर लें। उम्र अभी हुई

ही क्या है ? शादी करनी हो तो उम्र के लायक स्त्रियां भी मिल जाती हैं। किन्तु श्री राव ने विवाह नही किया। लडके की चिन्ता ही उनके सिर पर रही होगी।

वे बहुत कम बाहर जाते, हालांकि जगह-जगह से उनको निमन्त्रण आते थे। घर मे एक नौकर था, जो घर का सदस्य-सा ही था। उसके भरोसे भी वे अपने लडके को छोड कर न जाते। जाने क्यो उनको अपने लड़के से इतना लगाव था। इतना लगाव कि वे अपने जीवन को ही उस पर न्यौछावर कर रहे थे। जबकि वे जानते थे कि उनका लड़का कभी ठीक तन्दुरुस्त नही हो पाएगा। कभी चल फिर न सकेगा। क्यों ?

उन्होने तो नही बताया पर लोगो के इस बारे में कई अनुमान थे। एक अनुमान यह भी रहा था कि क्रातिकारी के दिनों मे उन्होने एक अंग्रेज अफसर के यहां हमला किया। निशाना तो अंग्रेज पर था, पर गोली लगी एक मिशनरी परिवार की छोटी लड़की को। वह उस समय अंग्रेज अफसर के यहां मेहमान थी। शोर मचा। भगदौड हुई। वह लडकी बराडे मे थी, वह श्री राव की ओर देखती चिल्लाती रही और दो क्षण बाद उसकी आवाज हमेशा के लिए चुप हो गई। और उसके साथ श्री राव का क्रातिकारी जीवन भी हमेशा के लिए समाप्त हो गया।

लेकिन उस मिशनरी ने कही कोई शिकायत न की, सरकार पर कोई दबाव न डाला। अफसर ने जरूर कोई कार्यवाही की। बहुत दिन श्री राव फरार रहे। 1942 के दिन थे। कई इस तरह के केस हुए थे। हिन्दुस्तान के आज़ाद होते ही अंग्रेज अफसर और अंग्रेज मिशनरी दोनों ही हिन्दुस्तान छोड़कर चले गए। मालूम नही यह बात कहाँ तक ठीक है, और कहां तक गलत।

कई का कहना था कि इसी कारण उनकी पत्नी मर गई थी और इसी कारण वे अपने पंगु लड़के को ढोकर जिन्दगी भर सजा भुगत रहे थे। वे शापग्रस्त से थे और पश्चाताप मे वे बिल्कुल बुझ से गए थे। यह भी कहा जाता था कि यदि वे जेल हो आते तो शायद वे इस आजीवन कैद से तो मुक्त हो जाते।

यह बात न शायद किसी ने श्री राव से कही, न उन्होंने ही कभी कुछ कहा। हो सकता है कि उनके मन को यह घटना बीध रही हो।

शाप किसी का भी हो, वे शापग्रस्त अवश्य थे। नहीं तो कौन अपनी जिन्दगी यूं कोल्हू के बैल की तरह बिताएगा, और एक ऐसा आदमी जिसको हर सुख

सुविधा मिल सकती थी।

एक दिन कई दिनों बाद मैं उनके घर गया। वहां एक महिला थी। कुछ कुछ अधेड़-सी। जिसकी जवानी अभी बाकी थी, वह चेहरे और वक्ष पर उभरी-सी थी। गौर वर्ण। नाक नक्श से भी आकर्षक। आँखें क्या थी, चुम्बक थी। और वे घर में घर वालों की तरह रह रही थी। मेहमान थी यह या रिश्तेदार, यह भी जानना मुश्किल। वे मेरे लिए प्रश्न-सी थी।

वे पंगु लड़के के पैंदाने की ओर बैठी थी और कुछ पढ़ रही थी। प्रोफेसर राव थे नहीं। मैंने सोचा कि वे उस महिला पर लड़के का भार छोड़ कर कहीं गए होंगे।

मैं जब मुस्कराता-मुस्कराता उनके पास गया तो लड़के ने कहा, "अंकल, ये अब हमारे यहाँ ही रहेंगी, हमारी आन्टी है, इनका नाम रेणुका है।"

"अच्छा," मैं उनको देख कर शिष्टतावश मुस्कराया। मैंने नमस्कार किया। उन्होंने भी किया, लेकिन कुछ इस तरह जैसे हाथ जोड़ना न चाहती हों।

"अंकल, पिता जी दिल्ली गए हुए है। दो-चार दिन में वापिस आ जाएँगे।" लड़के ने कहा।

"दिल्ली गए है, क्यों ?" मैंने जानना चाहा।

"अमेरिका से कोई बड़ा डॉक्टर आया है। उनसे कन्सल्ट करने गए है।"

"तुम्हें कैसे मालूम ?"

"आन्टी ने बताया है।" संदीप ने उस महिला की ओर इशारा किया और वे मुस्कराईं।

कहीं प्रोफेसर साहब ने इनसे शादी तो नहीं कर ली है। अच्छा किया अगर कर ली है। पहले ही कर लेनी चाहिए थी। महिला देखने-भालने में शालीन मालूम होती है। जोड़ी खराब न होगी। प्रोफेसर साहब की ज़िन्दगी में भी अब कुछ रोशनी आएगी। रौनक आएगी।

लड़के को गुसलखाने में जाने की ज़रूरत हुई। वे पास आईं। मैं भी गया। लड़का लेटे-लेटे, अच्छे खान-पान पर, काफी मोटा हो गया था। उसमें बहुत वज़न आ गया था, उसे उठाना मेरे बस की बात न थी। प्रोफेसर साहब आसानी से उसको उठाकर ले जाते थे। अच्छे कसरती आदमी थे और फिर रोज़ाना की आदत भी थी।

रेणुका कमरे में से बाहर बरामदे में गईं, वहाँ एक पहियों वाली कुर्सी रखी थी। नई चमचमाती सफेद कुर्सी। वह पहले वहाँ न थी। प्रोफेसर साहब शायद दिल्ली जाने से पहले उसे खरीद कर दे गए थे। उन्होंने लड़के को सहारा देकर, उस पर बिठाया और कुर्सी को धकेल कर गुसलखाने में ले गईं और फिर लड़के को लाकर बिस्तर पर बिठा दिया।

श्री राव यह कुर्सी पहले भी तो खरीद सकते थे, क्यों नहीं खरीदी ? क्यों लड़के को खुद ही ढोया करते थे ? क्यों वे अपने को यूँ दण्डित करना चाहते थे ? मुझे समझ नहीं आया।

लड़के ने कुछ देर बाद खाने का इशारा किया। रेणुका खाना भी ट्रे में रख कर ले आईं।

"आन्टी, अंकल ने खाना नहीं खाया है। उनके लिए भी।" लड़के ने कहा।

"नहीं, नहीं, मैंने खा लिया है, धन्यवाद।" मैंने कहा।

"और आन्टी आपने ?" लड़के ने पूछा।

"मैं खा लूँगी। पहले तुम तो खाओ।" उन्होंने कहा। और ट्रे ठीक-ठाक कर दी ताकि बिस्तर पर कुछ न गिरे। वे इस तरह उस लड़के की देखभाल कर रही थीं, कि अगर उसकी माँ जीवित भी होती तो वे भी शायद ही करती। मेरी उत्सुकता बढ़ी और शायद उत्सुकता बढ़ती जाती, यदि उसी समय प्रोफेसर साहब की बहन न आ जातीं, जब कभी श्री राव बाहर जाते थे तो तुरन्त अपनी बहन को बुलवा लेते थे। मुझे देख वे मुस्कराईं। "इस बार लगता है आपको देरी हो गई है," मैंने कहा।

"रेणुका है न ? मुझे ज़रा काम था, इसलिए देरी हो गई। तो राजा बहादुर बड़े आराम से खा रहे हैं।" उन्होंने अपने भतीजे की ठुड्डी सहलाते हुए कहा।

और रेणुका का चेहरा दमक-सा उठा। खुशी से चेहरे पर अजीब लाली आ गई। 'तुम आ गईं, अच्छा है, पर क्या ज़रूरत थी ? अपना काम ही करती, मैंने सब कुछ सम्भाल लिया है। कोई फिक्र न करो।"

दोनों इस तरह मिल रहे थे, जैसे घनिष्ठ सम्बन्धी हों।

मैं उस दिन चला आया और कुछ दिन बाद फिर प्रोफेसर साहब के घर गया। महिला वहीं थी और श्री राव उनसे इस घनिष्टता से बात कर रहे थे

जैसे केवल शादी की रस्म ही बाकी रह गयी हो। मुझे खुशी हुई और आश्चर्य भी।

फिर सुनने मे आया कि प्रोफेसर साहब उस महिला से शादी करने की सोच रहे थे। वह उनकी बहिन की रिश्तेदार थी। किसी से पहले शादी हुई थी, पर उनसे बनी नही, और अब दोनो ने एक दूसरे को छोड दिया था। वे परित्यक्ता-सी थी। उनकी बहिन ने उनको भेजा था और सुनते है कि वे ही चाहती थी, उनके भाई की उनसे शादी हो जाए।

परित्यक्ता, कहा जा रहा था कि जो आदमी, सोहबत तो दूर, स्त्रियो की परछाई से दूर भागता था, कैसे एक स्त्री को घर मे रखे हुये था। मैंने सोचा कि जब प्रोफेसर साहब के घर जाऊँगा तब मालूम करूँगा। मैं नही चाहता था कि एक स्त्री की बदौलत प्रोफेसर साहब की व्यर्थ बदनामी हो। सयोग कि वह महिला अकेली थी, और बरान्डे में बैठी हुई थी। और संदीप बिस्तरे पर सोया हुआ था। श्री राव घर मे न थे। वे लाइब्रेरी गए हुए थे।

"आजकल क्या कर रहे है प्रोफेसर साहब ?"

"वे एक और थीसिस पर काम कर रहे है।"

"आपकी मदद न होती तो शायद वे यह नया काम शुरू ही न कर पाते।" मैंने मुस्कराते हुए कहा।

वे शालीनता के साथ चुप रही।

"पहले तो वे घर से कॉलेज, और कॉलेज से घर और कही आते-जाते न थे। अब उनको फुरसत मिल गई है।"

वे चुप रही।

"आप क्या प्रोफेसर साहब की रिश्तेदारिन हैं···?"

"हाँ, एक तरह से···" वे फिर मुस्करा दी। दाँत चाँदी मे मँढ़े से लगते थे।

"आप इतने दिन कहाँ थी ?"

"मै रूस चली गई थी।"

"आप क्या प्रोफेसर साहब को बहुत पहले से जानती हैं ?"

"हाँ, काफी समय से जानती हूँ।"

"क्या आप भी सन् बयालीस के आन्दोलन मे थी ?" मैंने जानबूझ कर ऐसा प्रश्न किया था, जिसके उत्तर में से कई प्रश्नों का बिना पूछे ही समाधान मिल

सकता था।

"हाँ, मैं थी तो ···।"

"तब क्या आप प्रोफेसर साहब के साथ थीं ?"

"अब अर्सा हो गया है, वह सब हुए। आप क्या इनके स्टूडेंट हैं?"

"जी हाँ," मैं जान गया था कि मैं एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया था जहाँ शायद चुप रहना उनको अधिक पसन्द था।

"प्रोफेसर साहब क्या खाना खाने नहीं आएँगे ?"

"खाने आएंगे।"

"क्या आप फिर रूस चली जाएँगी ?"

"नहीं, अभी तो कोई इरादा नहीं है।"

"आपका परिवार ?"

"बस, अब सब कुछ यही है।" उन्होंने कहा, और अपना मुंह एक तरह मोड़ लिया।

मैंने सोचा कि अतीत कुछ भी रहा हो, अब वे प्रोफेसर साहब के साथ अपने जीवन का नया पन्ना शुरू करेंगी और उनके साथ प्रोफेसर साहब भी। वे दकियानूस खयालात के आदमी तो थे नहीं कि तलाक दी गई स्त्री से शादी न करें। उनका मादा तो ऐसा था कि ऐसी शादी ही करने की कोशिश करेंगे।

घर में तो वे दोनों साथ थे ही। वे कभी-कभी बाहर भी साथ देखे जाते थे। कुछ दिन बाद सुनने में आया कि रेणुका ने यूनिवर्सिटी में रिसर्च स्टूडेण्ट के तौर पर दाखला ले लिया था।

अफवाहें कुछ भी हों, पर अब सब जान गये थे कि श्री राव की उनसे शादी हुई हो या न हुई हो, रेणुका प्रोफेसर साहब के परिवार की प्रतिष्ठित सदस्या थी। प्रोफेसर साहब के व्यवहार में भी काफी फर्क आ गया था। उनमें उस तरह की जमी जमाई चुप्पी न थी जिस तरह की पहले थी—और सब यह आसानी से भाँप सकते थे। हम खुश थे। हम थे भी कितने? प्रोफेसर साहब विद्वान थे; सज्जन थे; पर उनकी दुनिया बहुत छोटी थी, और वह दुनिया खुश थी।

दो-चार साल गुज़र गए, पर प्रोफेसर साहब ने रेणुका से विधिवत शादी नहीं की और न ही रेणुका उनका घर छोड़ कर गई। इस बीच रेणुका को डाक्टरेट भी मिल गया था। सुना जा रहा था कि प्रोफेसर साहब उनकी नौकरी के लिए

कोशिश कर रहे थे। खैर !

फिर एक दिन सवेरे-सवेरे हमारे दो-चार मित्र, प्रोफेसर साहब के शिष्य; सब भागे-भागे उनके घर गए। श्री राव अपने घर मे और बाहर मोहल्ले में पागलों की तरह घूम रहे थे, चिल्ला रहे थे, सिर धुन रहे थे। कपडे-लत्ते फाड़-फाड कर फेंक रहे थे। वे पागल हो गए थे।

हम घर के अन्दर गए तो उनका लडका संदीप गुजर चुका था। वह शान्त, ठडा, हमेशा के लिए आँखें मीचें पडा था। रेणुका उसके पैंदाने के पास बैठी सिसक रही थी। वह बोझ, प्रोफेसर साहब जिन्दगी भर ढोते आए थे, और वह लडका जिसकी जिन्दगी ही बिस्तर पर थी, और सारी दुनिया उस कमरे तक सीमित थी, यकायक मर गया था। पुत्र मृत्यु का भले ही शोक हो, पर यह पिता के लिए राहत की बात भी हो सकती थी क्योकि मौत ने उस लडके को लेजाकर उन दोनो पर मेहरबानी की थी। क्या करता जीकर वह ? उसका मर जाना ही अच्छा था। और एक हमारे प्रोफेसर थे जो उसकी मौत पर पागल हो गए थे। हमे कुछ समझ मे नही आया।

प्रोफेसर साहब दो-तीन महीने पागलखाने में रहे, फिर तन्दुरुस्त होकर आए। वह महिला उनकी बराबर सेवा करती रही। फिर भी उन्होने उनको घर आते ही भेज दिया जैसे अपने लडके की देखभाल के लिये उन्होंने उनको इतने समय अपने घर रहने दिया हो। कई का तो कहना था कि प्रोफेसर साहब का निश्चय अजीब ही नही अन्यायपूर्ण था, क्यो कि वे उनके साथ उलझी हुई थी इसलिए रेणुका की पहले पति से अनबन थी। खैर !

हम सोच रहे थे कि लड़के की मौत के बाद प्रोफेसर साहब रेणुका से शादी कर लेगे पर उन्होंने नही की। कम से कम वे पुराना सम्बन्ध तो निभाते। घर में रहने तो देते। वे कही की भी न रही।

हम आज भी इतने लम्बे अर्से के बाद हैरान है, आखिर उन्होंने अपनी जिन्दगी फिर से क्यो नही बसाई, जब कि वे बखूबी बसा सकते थे ? क्यो वे एक 'बोझ' के उतर जाने पर पागल हो गए थे ? क्यो उन्होंने रेणुका को घर से भेज दिया था ? क्यो उन्होंने अकेले रहना पसन्द किया था ?···क्यो ?

○○

माँ मिली तो कैसी मिली

लीला होने को तो खूबसूरत न थी; भोंडी, भद्दी भी न थी। पर उसका अपना अलग आकर्षण था। अधेड़ हो गई थी, किन्तु उसको अपना क्वारापन न अखरता था। वह अक्सर कहा करती थी। 'अब शादी की मज़ा भी नहीं रह गया।'

'इस वजह से कि यह पूरी हो गई है।' उसकी सहेलियाँ मज़ाक किया करतीं।

"मैं न हाँ कहूँगी, न ना ही। कुछ भी कह बैठी तो मैं फसूँगी। मैंने अपनी इच्छा का उर्ध्वीकरण कर दिया है—यानि वाष्पीकरण।" लीला मुस्कराती-मुस्कराती कहती। वह कुछ-कुछ मुँहफट-सी थी। ऐसी बात भी न थी कि उसने दुनिया से किनारा कर लिया हो। उसे जिन्दगी से लगाव था और अपने ही ढंग से जीवन का मज़ा भी लेती थी। वह कुछ कुछ बदनाम भी थी। लेकिन उसको परवाह न थी। वह भारतीय नारी के किसी ढांचे में ढली-सी न लगती थी। यह भी उसके आकर्षणक का एक कारण था। खासतौर पर उनके लिए जो आधुनिक होने की हवस तो रखते थे पर हिम्मत नहीं। लीला उनकी एक तरह की सलाहकार थी। वह अपनी रोज़ी-रोटी के लिए काम करती थी, और भारतीय परिमाणों के अनुसार उसकी आय भी अच्छी थी। शिक्षित थी और कुछ स्वतन्त्र खयालात की थी, इसलिए जो उसको जानते वह उनको अक्सर भाती भी। सीता उसको बहुत चाहती थी, शायद अपनी माता से भी अधिक।

सीता जैसे ही अपने पिता के अन्त्येष्टि सस्कार के कर्मकाण्डों से मुक्त हुई, वैसे ही लीला के पास चली आई, हालाँकि उसकी बिरादरी के लोग ऐसे समय घर से बाहर भी न निकलते थे।

"तुम्हें अपनी माता के पास रहना चाहिए था।" लीला ने उसको सलाह दी।

"ओह," सीता की भौंहे सिकुड़ीं। तिरछी नजर से उसने लीला की ओर देखा।

"पहले से कही अधिक अब तुम्हारी माँ को तुम्हारी जरूरत है।"

"उन्हें तो कभी भी मेरी खास जरूरत नही रही। हो सकता है कि मैं अजीब लड़की हूँ, सनको। यह भी सम्भव है कि मेरा माता के प्रति कोई आदर नही है। काश, होता! न मालूम उनको जरूरत है कि नही, पर एक समय मुझे उनकी बड़ी जरूरत थी। लेकिन···" सीता की आँखें यकायक भर आईं।

"तो भी ऐसे वक्त हर कोई चाहता है कि आस-पास के लोग ढाढस बँधाएँ खैर, जाने दो।" लीला ने अपनी घूमने वाली कुर्सी घुमाई और कहा।

"अमेरिका मे तुम्हारी जिन्दगी कैसी रही?"

"जिन्दगी? मैं तो जंग खाए हुए पुर्जे की तरह थी, ऐसे मशीन के पुर्जे की तरह जिसका कभी इस्तेमाल ही न होता हो। छोटे-से तग कमरे मे, मेरे लिए रहना अच्छी खासी सजा थी। होने को तो सभी आराम की चीजें उस कमरे में थी, कोई कसर नही थी पर वक्त काटे नही कटता था। कोई बात करने तक के लिए नही मिलता था।

"तुम्हारे पति जो थे।"

"वो, हाँ थे तो। पर उनको काम इतना कि सवेरे से आधी रात तक कभी कोई फुर्सत नही। जिनके बारे मे इतना बढ़ा-चढ़ा कर यहाँ कहा जाता है उनकी वहाँ गुलामों की सी जिन्दगी है। हमेशा काम। सवेरे से शाम तक काम, शाम से सवेरे तक। पड़ोसियो से भी तो बात नही की जा सकती। वे हमसे फासला रखते हैं; न हम गोरे हैं। न काले ही, मोटापा भी नही। यहाँ बैठी आप अनुमान भी नही कर सकती कि हम पर वहाँ क्या बीतती है। बड़े सुनहले बाग दिखाए जाते है यहाँ जैसे कोई स्वप्न लोक से आ पड़ा हो। हो सकता है कि वह स्वप्न लोक हो भी, लेकिन वह मुझे अच्छा नही लगा। मुझे रास नही आया।"

"यही तो बात है। यदि तुम्हें आधुनिकता पसन्द होती, आरामदेह मशीनें पसन्द आतीं···कार और फ्रिज, रेडियो और टेलिविजन; तो तुम्हें वह देश पसन्द आता।"

"क्या करूँगी ये सब लेकर? मेरी माँ···" सीता कहती-कहती रुकी, और लीला ने पूछा, "क्यों नही ले जाती अपनी माता को साथ, पिता जी तो अब रहे

नही।"

"नहीं, वह मेरे अकेलेपन की ज़िन्दगी को बर्दाश्त से बाहर कर देंगी। खैर, आप मेरी माँ को नही जानती हैं। यह सब उनकी ही तो करनी है, अगर आज मेरी यह हालत है, तो वे भी इसके लिए जिम्मेवार हैं। हो सकता है। इतनी दूर उन्होंने न सोचा हो, पर उनका दिल इतना गन्दा है और जबान इतनी तेज़ाबी कि मुझे अचरज होता है कि कैसे मेरे पिता जी को उन पर प्रेम हो गया था और कैसे वे इतने साल उनके साथ रह पाए ?"

"तो तुम्हारे पिता जी का प्रेम विवाह हुआ था ? यह तो दिलचस्प बात है।"

"इस दुस्साहस के लिए उनको उनकी बिरादरी ने बिरादरी से निकल दिया था। इसलिये उनकी पत्नी को उनको और अधिक प्यार करना चाहिए था। किन्तु उस आदमी को सिवाय दिन रात की चख-चख के, चुड़ैलपन के, पत्नी से कुछ न मला। मेरी माँ इतनी चलती हुई है कि प्रेम का मादा शायद उनमें नही है।"

"हूँ, अगर प्रेम का मादा उनमे न था तो उन्होंने कैसे तुम्हारे पिता से प्यार किया था ? नहीं, तुम गलत कह रही हो", लीला ने हँसते हुए कहा।

"नही, मैं नही सोचती कि मेरी माँ ने कभी प्यार किया था, अगर कभी किया होता तो बाद में क्या हुआ उस प्रेम का ? प्रेम मौसमी फूल तो है नही ?"

"तो क्या यह एक तरफा प्रेम विवाह था ?"

"हाँ, शायद ! मुझे नही मालूम कि मैंने पहले आपसे कहा था कि नहीं, शायद कभी बताया हो। जब मैं अपनी माँ को समझाने की कोशिश करती हूँ तो •••शायद मुझे उनकी आलोचना नही करनी चाहिए लेकिन मैं भी अपने स्वभाव से लाचार हूँ। उनकी जैसी ज़िन्दगी मे सिवाय पैसे के कोई किसी और चीज को पसन्द ही नही कर सकती है—ऐसे गरीब स्कूल मास्टर की लड़की, कोई जमीन जायदाद नही, खास आय नही, गरीबी हमेशा देहली पर, तब अगर कोई पैसा चाहता है, तो क्या गुनाह करता है ?"

"हाँ, तुम ठीक कह रही हो।

"मेरे पिता जी किसी और से शादी कर सकते थे। वे सरकार में अच्छे पद पर थे। आप शायद जानती ही हैं, कि जब उनकी शादी हुई थी, तब वे असिस्टेण्ट सैक्रेटरी थे, वे चढ़ती जवानी मे थे, और देखने-भालने मे भी खराब न थे, जाने कैसे मेरी माँ पर फिदा हो गए और तो और मेरी माता का पहले भी विवाह

हुआ था, और वे विधवा हो चुकी थीं। मेरे पिता ने असाधारण क्रान्तिकारी काम किया था।"

"तुम्हारे पिता सरीखे लोग हमारे समाज मे बहुत कम हैं।" लीला ने कहा।

"मेरी माँ को इस कारण उनके प्रति और स्नेहशील होना चाहिए था, स्नेहशील नही, तो कम से कम कृतज्ञ तो होना ही चाहिए था, पर कृतज्ञता उनके स्वभाव में ही नही है।"

"नही, तुम्हें ऐसा नही कहना चाहिए।"

"हो सकता है कि मैं माँ पर अधिक हूँ, हालांकि मेरी शक्ल-सूरत पिता पर है।"

"कहते है, जो बाप की शक्ल पर जाती है, वह बडी भाग्यशाली होती है।"

"खैर, मेरी माँ ने कभी उनको चैन से रहने न दिया। हमेशा कोई न कोई शिकवा-शिकायत, यही खयाल कि उनको कोई और मालदार आदमी मिल सकता था। उनको शायद अपने बनाने वाले से भी शिकायत थी, शायद अब भी है।"

"यह स्वभाव की बात है।"

"मुझे लगता है कि मेरे पिता भी जीवित रहते अगर उनको जिन्दगी भर मेरी माँ ने सताया न होता। मेरी माँ का उन पर जबर्दस्त दबदबा था। आखिर मर्द मर्द है, कमाता है, इसलिए उसको आखिरी निर्णय का हक भी है। हक हो या न हो, उसका कम-से-कम लिहाज तो किया ही जाना चाहिए। लेकिन उनकी पत्नी ने उनका कोई लिहाज नही किया। अजीब-सी बात है, मैं यह भी नही जानती कि मैं यह सब आपको क्यो बता रही हूँ। खैर, मुझे किसी-न-किसी को तो बताना ही है, नहीं तो फूट जाऊँगी।"

लीला बहुत कुछ सोच रही थी, और जो सोच रही थी वह कहना न चाहती थी।

"भाग्य से या दुर्भाग्य से हम दो बहनें ही हैं। शायद वे लड़का चाहती थी। किन्तु मेरे पिता इस बारे में क्या कर सकते थे?"

"तुम्हे अपनी माता को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। कोई अपनी माता को छोटी नजर से नही देखता।"

"हर किसी को मेरी माता जैसी माता भी तो नही मिलती। वे सिवाय अपने के किसी को कुछ समझती ही नही हैं। मैं बहुत इधर-उधर की बात नहीं

कर रही हूँ, आपका वक्त तो खराब नहीं कर रही हूँ ?"

लीला उसको जाने के लिए कह सकती थी, पर कहा नहीं। उनका मूड बदल गया था। वह जानती थी कि सीता यह सब कहने के लिए ही उनके पास नहीं आई थी। ये बातें जब वह छोटी थी, अमेरिका जाने से पहले किसी-न-किसी प्रसंग में कह चुकी थी। पर लीला ने समझा था कि अगर फासला हो, तो कई समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं। दुर्भावनाएँ समाप्त हो जाती है, और हर कोई दूसरे को समझने की कोशिश करता है। लेकिन सीता में वह दुर्भावना घृणा में जम-सी गई थी। आखिर क्यों ? "अच्छा चलो, बाहर चलें। बाहर रेस्तरां में चाय हो जाए।" लीला ने कहा।

सीता मुस्कराई। "आप नहीं जानती कि मुझे इसकी कितनी जरूरत है। मैं दो साल से घुट रही हूँ। हो सकता है कि मेरी माता को भी मुझसे शिकायत हो।"

वे रेस्तरां मे पहुँचे। वहाँ ज्यादह लोग न थे। वे एक कोने में जा बैठीं। अमेरिका जाने से पहले सीता अक्सर लीला के पास आया करती थी और उनसे ऐसी बातें किया करती थी, जिन्हें वह अपनी माता के पास छेड़ भी नहीं सकती थी।

"मेरी माँ खुशी से न समाती थी, पिता जी भी खुश थे, कि मेरी शादी करके, पिताजी फिर अपनी जाति में चले गए थे, जिससे अपनी शादी के बाद बहिष्कृत से हो गए थे। खुशी शायद मेरी किस्मत में उतनी नहीं है।"

"वाह, अभी तो जिन्दगी शुरू की है, खुशी की क्या कमी है, अगर खुशी पाने की ख्वाईश हो।" लीला मुस्कराई।

"मुझे शायद अपनी माता के बारे में इतना कुछ नहीं कहना चाहिए था। मैं इस समय एक और समस्या में उलझी हुई हूँ। जाने क्यों मेरी हर बात माता जी के साथ उलझ पड़ती है। जान नहीं पड़ता कि कैसे यह बात छेड़ूँ। पर कोई ऐसी बात भी तो नहीं, जो आप नहीं जानती हो।" सीता ने कुछ हिचकिचाते हुए कहा, "चूँकि शादी के बाद बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो खुलकर कही भी तो नहीं जा सकती।"

"क्यों, तुम अमेरिका में खुश नहीं हो ?"

"खुश ? क्या कहूँ ? अच्छी आय है उनकी, रहने के लिए जगह भी खराब

नही है, पर मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं किसी रेफ्रिजरेटर में हूँ। घर से हस्पताल, हस्पताल से घर, जाने वाली गाडी के साथ मेरा मन इधर से उधर, उधर से इधर, भागता परेशान है। और यह सब मेरी माता की करनी है।"

"क्या तुम इसी वजह से उनको नही चाहती हो ?"

"हाँ, हाँ, कुछ-कुछ; चाहने को तो मैं अपने को भी नही चाहती। जाने कैसे मैं उनके हाथों मे कठपुतली बन गई थी। पर उसे मैं बाद में बताऊँगी, आपको कोई जल्दी तो नही है ?"

"नहीं तो, कहो न।"

"मुझे नही मालूम कि पिता की मौत के इतनी जल्दी बाद, मुझे इस तरह की बातें करनी चाहिएँ कि नही, पर यहाँ मैं ज्यादह दिन रहूंगी भी तो नही।" वह सहसा रुकी, और कहने लगी, "नही मालूम जिन्दगी का क्या रुख हो और क्या-क्या हो।" उसने एक लम्बी साँस ली। लीला जान सकती थी। वह किसी बात में इस तरह उलझी हुई थी कि कोई निश्चय नही ले पा रही थी और घुट रही थी। बिचारी लडकी। कोई आज़ादी नही, हमेशा अपनी मर्जी के खिलाफ इधर-उधर हाँकी गई है।

"मैं हज़ारों मील दूर थी, नई दुनिया में, नये माहौल मे। पर मैं उसे ही याद करती रही। सोचने को तो मै अपनी माँ के बारे मे भी सोचती थी, शायद सोच-सोच कर कोपत बढती जाती है। मैं इस अजीब तिकोने चुम्बक में टुकडे-टुकडे हो रही थी। एक के साथ रह रही थी, दूसरे को चाह रही थी, और तीसरे को कोस रही थी। इस हालत मे दिल का कीमा बन जाता है और भावनाएँ एक घोल सी। मै अपने मन की बात आप से छुपा भी नही सकती फिर मैं बोलती भी अधिक हूँ।"

"पर क्या तुमने अपने पति से कहा कि तुम किस तरह एक और के प्रेम में उलझी हुई हो।" लीला एक साँस मे कह तो गई, फिर कहा, "मुझे मालूम है कि ये बातें कही नही जाती हैं।"

"नही, मैंने नही कहा। वे समझदार है, समझ गए होंगे। अगर मै अपने पति के बारे म यूँ बुझी-बुझी रही तो वह इसीलिए ही कि उनका प्रेम भी कुछ ऐसा, वैसा ही था। वे स्वभाव से ठंडे है। उनका पालन-पोषण ही कुछ इस [illegible] है।" सीता कह रही थी, और लीला को ताज्जुब हो रहा था कि वह

को इस तरह परख रही थी, जैसे उन्हें परीक्षण की नली मे रख दिया हो और उनकी नस-नस की, रग-रग की जाँच कर रही हो। सीता अब बहुत बदल गई थी। उतनी चुलबुली, चुस्त, तेज नही थी जिस तरह की वह पहले थी।

"खैर, मैं आपसे यह जानना चाहती थी,···मैं नही जानती कि यह ठीक है कि नही लेकिन मैं इन गलत और सही के मामलो मे क्यों फंस रही हूँ—नही जानती, क्या मेरा शेखर को देखना ठीक होगा? मैं जाने कब से उसको देखने के लिए उतावली हो रही हूँ। मैं कोशिश करती रही कि उसके बारे मे न सोचूं, पर माँ जब मन मे आती तो साथ वह भी आता और वह आता तो माँ आती। क्या मैं उसे देख सकती हूं?"

"ओह, तो बात यह है?" लीला सोच नही पा रही थी कि उसको क्या सलाह दे। "यह हमारे देश मे अक्सर होता नही है।"

"हाँ, हाँ, मै जानती हूँ। मेरे पिता जी के गुजर जाने के बाद वह मुझे देखने आया था, लेकिन मैं उससे बात भी न कर सकी, वह फिर आया। मेरी माँ ने मुझे उससे बात ही नही करने दी और कुछ नही तो मै अपने व्यवहार पर स्वय लज्जित हूँ। अब मुझे कुछ-न-कुछ करना ही, रिटर्न विजिट तो पे करनी ही है।"

"मुझे नही मालूम कि यह कहाँ तक ठीक है, पर कहते है कि अगर मन मे कोई ख्वाइश हो और उसे दवा दिया जाए तो वह सैंकडों रास्तों से बाहर फूटती है और हमेशा उन रास्तो से नही जिन्हे लोग अच्छा मानते है। यह तुम्हारी निजी बात है, इससे बहुत बुरे नतीजे भी हो सकते है। मै सचमुच नही जानती कि तुम्हे क्या सलाह दूँ।"

"अगर आप मेरी जगह होती तो क्या करती?"

"मैं? मैं उसे शायद देखती अगर मुझे भी वे सब तजुर्बे हुए होते जो तुम्हे हुए हैं।"

"यही मेरे लिए काफी है।"

"लेकिन, लीला तब भी सन्देह मे थी कि उसके मुख से···।"

"तुम जानती हो, शेखर ने अभी तक शादी नही की है···और शायद··· खैर", लीला ने कहा।

"क्या काम वाम करता है?"

"अच्छी नौकरी है उसकी। और मन पसन्द की नौकरी। और, भारतीय

स्टैण्डर्ड के मुताबिक अच्छी खासी तनख्वाह भी है।”
“और मेरी मां ने उससे मेरी शादी इसलिए नहीं होने दी थी चूंकि उस
समय उसके पास अच्छी नौकरी न थी। पर जिन्दगी भर कोई बिना नौकरी के रह
भी तो नहीं सकता। मैं इन्तजार कर सकती थी, अच्छा पढा लिखा आदमी है।
और···वह ठीक है न ?”

“ठीक है।”

“देख तो खैर मैं उसे लूंगी ही, लेकिन मुझे मां का डर है। मेरी मुसीबत यही
तो है कि मुझ में हिम्मत नहीं है। मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि मैं अन्धी हूं,
और मेरी मां मुझे हाथ पकड़ कर चला रही है। मुझे यह अच्छा नहीं लगता,
चूंकि मुझे यह दुस्थिति पसन्द नहीं है, इसलिए वह मुझे और भी बुरी लगती है।

“हूँ, हूँ”, लीला ने अन्यमनस्क होकर सिर हिलाया।

“मेरी समस्या यह है कि अगर मैं शेखर को देखती हूँ, और मां इस बारे में
जान जाती है तो वह उसकी खबर बफर्ज मेरे पति के पास भिजवा देंगी, उनका
कोई भरोसा नहीं।”

“तुम यह तो नहीं चाहोगी कि तुम्हारे प्रेम वेग में उनकी भी मदद हो ?”

सीता मुस्कराई। “मान लीजिए मैं शेखर से मिल लेती हूँ। मेरी माता
की आदतें इस तरह खराब है कि पोलीस की कुतिया की तरह घूमेंगी फिरेंगी,
और मालूम कर लेगी कि मैं शेखर से मिलती रहती हूँ। वह मेरे पति को बता
देंगी।”

“हूँ, हूँ,”

“बताएगी बावलेपन की वजह से नहीं, न नादानी की वजह से ही, न
शरारत की वजह से ही, मैं उनको जानती हूँ, यह उनका स्वभाव है।”

“क्यों यह सोच रही हो ?”

“शायद मैंने यह पहले भी कभी बताया था, मैं भी और बच्चों की तरह थी
अपनी मां को प्यार करती थी, वह इस दुनिया में मेरे लिए देवी थी। यद्यपि मे
पिता के प्रति उनका व्यवहार मुझे कतई पसन्द न था। वे उनके पति ही न
उपकारी भी थे, उनको कृतज्ञ होना चाहिए था।”

“हां, हां,”

“जो उनका स्वभाव पहले था, अब भी है। मैं नहीं जानती कि कोई मां

अपनी लडकी के बारे में उस तरह बात करेगी, जिस तरह मेरी माँ ने की थी।"

"पर कोई लडकी अपनी माँ के बारे में इस तरह भी तो नही सोचती जिस तरह तुम सोच रही हो।" लीला शायद सीता की गम्भीरता और लडाकू लहजे को बदलना चाहती थी।

"हाँ, तो बात ऐसी थी, कहते भी नही बनती है, खैर, तब मैं किशोरी थी, मैं रजस्वला भी हो गई थी। पर मेरा मासिक धर्म नियमित नही था। यह मुझे मालूम न था, कम से कम मेरी माता को तो मालूम होना चाहिए था, मैं उन दिनों कॉलेज मे पहले वर्ष में थी।"

"यह बात तो तुमने पहले कभी नही बताई ?"

"दो महीने मेरे पीरियड नही आए। यह कोई बडी बात न थी, आज मैं जानती हूँ, किन्तु उन दिनों कुछ नही जानती थी। मेरी माँ को इस बारे मे मालूम हो गया और वे चुप न रह सकी। उन्होने तुरत अपनी कल्पना के जेट इन्जन चला दिए। वे अपनी सहेलियों से और मिलने-जुलने वालों से कहने लगी "न मालूम मेरे मुकद्दर मे क्या लिखा है, कभी मैंने न सोचा था कि मेरी लडकी यह होगी, वह भटक गई है।" मुझे उनकी सहेली ने ही यह बात बताई थी।

"वह तुम्हे यूँ ही कुरेद रही होगी।"

"नही, क्या कोई माँ इस तरह की बात किसी और से कहेगी ?"

"नही, ये बाते कही तो नही जाती है।"

"वह मुझे डाक्टर के पास ले गई। गन्दा डाक्टर, जिसकी प्रेक्टिस ही शायद इस तरह के ऊटपटाँग काम के लिए ही थी, अब मै जानती हूँ कि वह एवोर्शनिस्ट थी। उसने मुझे कुछ गोलियाँ दी, और मेरे पीरियड आ गए। लेकिन मेरी माँ न जान सकी कि उसने मुझ पर कहर ढा दिया था। वह मुझ पर हमेशा सन्देह करती रही। मै उसके लिए गिरी औरत थी और यह तब जब यह भी न जानती थी कि गिरना क्या होता है। हो सकता है कि इस तरह वह मुझे जिन्दगी भर अपनी मुट्ठी मे रखना चाहती हो या वह जान गई हो कि मैं कभी उसके खिलाफ कभी न कभी तो उठूँगी ही। नही मालूम। खैर।"

"हूँ ?"

"माँ को छोड़िए, क्या कोई स्त्री यह करेगी ? मैं माँ की नज़र मे बदचलन बन गई। बदचलन तो हूँ ही, अब मैं वह करूँगी जो करना चाहती हूँ। भले ही

बरबाद हो जाऊँ।"

"किसी को चिढ़ाने के लिए अपनी नाक कटवाने की तो जरूरत नही है ? तुम मे माँ का खून कुछ अधिक ही है।"

"हाँ, उनका गन्दा दिल तो जरूर है। मुझ मे उतनी न हिम्मत है, न हिराकत ही।"

"गनीमत है कि हिम्मत नही है, नहीं तो कुछ कर कराकर पछताओगी।"

"अगर मेरे मन में इस तरह के खयालात हैं, तो इसलिए कि उन्होंने मेरा दिल कड़वा कर दिया है। और कड़वे दिल से कड़वापन ही तो निकलेगा। उन्होंने मेरे मन को कुचल कर रख दिया है। मैं अपने पति को भी प्यार नही कर सकती, क्या प्यार करूँगी उन्हें ? खैर, वह एक और किस्सा है। मेरी माँ ने उस आदमी के साथ रहने नही दिया जिसको मैने प्यार किया था, जिसने मुझे प्यार किया था। अब यह हालत है कि शायद मैं प्यार करने लायक रह भी नही गई हूँ। यह मेरी माँ की करनी है, मैं जानती हूँ कि उन्होंने मुझे बरबाद कर दिया है—मेरी माँ ने।" सीता ने कुछ आवाज को ऊँची करके, भौहें विढ़ाते हुए कहा।

"जब तुम माँ बनोगी, तो कुछ और सोचोगी। इस तरह की बातें मन मे नही उठेंगी।"

"उस जैसे पति के साथ माँ बनने की गुंजाइश नही है···" उसने हँसने की कोशिश की लेकिन उसकी आँखों से आँसू झर गए। क्रोध के आँसू, दुख और निराशा के आँसू, असन्तुष्ट प्रेम के आँसू।

अपने को सम्भालते हुए उसने फिर कहा, "आज पिता जी भी नही रहे। मैं उनका लिहाज करती थी, मैं अब अमेरिका नही जाऊँगी। वह करूँगी जो मुझे अमेरिका जाने से पहले करना चाहिए था।"

सीता और लीला रेस्तराँ से बाहर चल आईं। और सीता को लग रहा था जैसे वह शून्य मे चली आ रही हो। उसे किसी की सहारे के जरूरत थी और उसका सहारा लीला, कुछ कही अलग चली जा रही थी। क्या किया जाए ? उसका मन तो हल्का हो गया था, पर उसे लग रहा था जैसे वह किसी घने कोहरे मे लड़खड़ा रही हो।

वददुआ

"इसलिए ही इतना पढ़ाया-लिखाया था कि आज हमें यह सुनना पड़े। जमाना बदल गया है। बच्चे भी माँ-बाप को अनसुना कर देते हैं।" श्री अनन्त कृष्णन अपने लडके से कह रहे थे। और वे शायद सुन भी नही रहे थे।

"हमारा नही तो कम-से-कम अपने विद्यार्थियों का तो ख्याल किया होता। जो आज तुम कर रहे हो कल अगर वे करने लगे तो—" पिता अपनी नरम आवाज में कडवी-कडवी बात कह रहे थे। उनके लडके राघवन इधर-उधर इस तरह देख रहे थे, जैसे वे बातें किसी और से कही जा रही हों। खड़े भी इस तरह थे जैसे पिता उनके मातहत काम करने वाले कोई हों। "आखिर मैंने कौन-सा ऐसा गुनाह कर दिया है?" लडके ने पिता को घूरते हुए पूछा।

"गुनाह? माँ-बाप की बात न मानना गुनाह नही है क्या?" उन्होंने कहा।

"तो क्या मुझे शादी करके बाप बनने का भी हक नही है?" लडके ने कहा।

"ज्यादह पढ़ लिख गए हो, बेटा जब हक की बात करते हो, तो फर्ज की बात भी सोचते। हम ही जानते हैं कि हमने तुम्हें पढाने-लिखाने के लिए क्या-क्या मुसीबतें झेली हैं।"

"मैं जानता हूँ।" राघवन ने तीखे ढग से कहा और अपना हेलमेट उठाकर कपड़े ठीक करते हुए चले गए।

वे कभी पिता की नजर बचाकर घर आते तो कभी उनको टरकाकर निकल जाते। आज जो बहुत दिन से कहना चाहते थे और कह नहीं पा रहे थे घुमा-फिरा कर पिता जी से उन्होंने कह दिया था। मन में एक प्रकार का हल्कापन आ गया था। "आखिर इनको मालूम कैसे हुआ कि मेरा कैथरीन से मेल-जोल है? क्या खुद कैथरीन ने लिखा था? पर इनको भनक तो बहुत पहले ही लग गई थी,

क्या यह कृष्ण स्वामी अय्यंगार की करतूत है? वे ही पिता जी के पास आते-जाते हैं, दोनों में दोस्ती है। कृष्ण स्वामी अय्यगार साथ-साथ अध्यापक वर्ग में है, पर क्यों दूसरों की निजी बातों में यूँ दखल देते है और बुजुर्गों के कान भरते हैं? उम्र हो जाती है, पर इन जैसे लोगों की दुम सीधी नही होती।"

कॉलेज गए तो राघवन के मन मे ये बातें ही भंवरा रही थी। 'जवाब तो दे दिया। जन्म दिया है, इसका अर्थ यह तो नही है कि जीवन भर चाबुक लेकर हाँकते जाएँ। आखिर मैं भी तो सयाना हूँ।' राघवन सोचते जा रहे थे।

राघवन कॉलेज मे राजनीति पढ़ाते थे। तीस एक की उम्र थी। पढाई में इतना समय लग दिया था कि वे शादी के बारे मे न सोच सके; जबकि माँ-बाप और सस्कारों की तरह विवाह सस्कार भी कर देते है। शायद राघवन के पिता भी कर देते अगर उन्ही की जिद न होती कि डॉक्टरेट करते ही वे शादी कर देंगे।

"मानता हूँ हमारे समाज मे पिता को अपने पुत्र का विवाह करने का हक है; पर लडके की असहमति या अनिच्छा करने पर नहीं। यह तो सरासर अन्याय है। अत्याचार है।" राजनीति के रीडर राघवन बेलगाम सोचते जाते थे।

राघवन अपने पिता के इकलौते थे। कोई बहिन भी न थी। पिता जी कभी छोटे-मोटे क्लर्क थे। उन्होंने गरीबी के बुरे दिन देखे थे और चाहते थे कि उनका लडका वह सब न भुगते जिसको उन्होंने स्वयं भुगता था। छोटी-सी तनख्वाह पर ही उन्होंने राघवन को पढा-लिखा दिया था। एक-एक पैसा जोड कर एक छोटा मोटा घर भी बना लिया था। अब लड़का बडा हो गया था; कामकाजी; कमाऊ। वे उसका घर बसा कर उस सुखद क्षण की प्रतीक्षा में थे जब कि उनका लडका अपने लडके को उनका नाम देगा, जैसे कि उन्होंने अपने पिता का नाम राघवन को दिया था। वे उतावले हो रहे थे कि वह क्षण जल्दी आएँ पर इस बीच राघवन पर किसी औरत ने जाल फेंक दिया और वह जाल में फँस भी गया।

अनन्त कृष्णन धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। पारम्परिक विश्वासों के कर्म काण्डी। उनको रंज था कि 'राघवन भटक गया था और अब तो इतना बड़ा हो गया है कि माँ-बाप के कान ही काटने लगा है, हर बात का इस तरह जवाब देता है जैसे हम कोई अजनबी हों, कम-से-कम उसका तो ख्याल करे।' इस तरह की बातें उन्होंने अपनी पत्नी से कई बार कह कर अपने को सांत्वना दी

थी। साफ-साफ तो नही बताया था लेकिन उनकी पत्नी जान सकती थी कि उनके मन को क्या सता रहा था। वे पशोपेश मे थी। अगर वह पुत्र के खिलाफ कुछ बोलती है, तो ख्वाहम-ख्वाह लड़का नाराज होता है और पति से सहमत नही होती है, तो वे बुरा मानते है। वे चुप थी। अक्सर चारपाई पर पड़ी रहती। यह सोचती-सी 'कोई बहू आए, और दिन-रात की इस पिसाई से कुछ आराम मिले।'

वे भी रिश्तेदारी मे दो-चार से बात कर आई थी, पर बिना राघवन की रजामन्दी के वे कुछ कर भी तो नही सकती थी।

राघवन सीधे कैथरीन के पास गए। दोनों या तो स्टॉफ रूम मे मिलते, नही तो सडक पार के रेस्तरॉं में। संयोग, दोनो की क्लास न थी। राघवन कैथरीन को रेस्तरॉं मे ले गए।

"आज मेरी झपट ओल्ड मैन से हो ही गई।" राघवन ने कहा।

"इसमे झपट की क्या बात है? क्या आप लोगो में इतनी भी आजादी नही है?" कैथरीन कह रही थी कि राघवन बोल उठे—"कि किसी को प्रेम कर सकें।" राघवन तो ज़ोर से हँसे पर कैथरीन मुस्कराकर रह गई। "पर हुआ क्या?" उसने जानना चाहा।

"बेफिक्र रहो। मैं उनको मना लूंगा।"

"और अगर वे न मानें तो ··?"

"मैं इतना कमीना नही हूँ कि वादा फरोशी करूँ। यकीन मानो।"

"हूँ," कैथरीन इधर-उधर देखने लगी। क्यो कि वह अर्से से यह बात सुनती आ रही थी।

"मुझे समझ मे नही आता कि भारत मे क्यो विवाह को इतनी महता दी जाती है? पश्चिम मे तो विवाह भी नही करते हैं, और पति-पत्नी की तरह रहते है।"

"क्यो? क्या इशारा है आपका? मगर···।"

"छोड़ो इस माया पच्ची को; आज शाम तुम कहाँ जा रही हो?"

"घर!" कैथरीन ने कुछ अनमने भाव से कहा।

"आज तुम बहुत थकी हुई सी मालूम होती हो। ऊब गई हो।"

"नही, मुझे ज़रा सिर दर्द हो रहा है।"

"सेरिडोन ला दूं ?"

"नहीं। अभी कॉफी पी है, शायद ठीक हो जाए।"

कैथरीन बात करने के मूड में न थी; न चोचलेबाजी करने की ही। राघवन को लगा कि कैथरीन बहाना कर रही थी। उनको यह भी लगा कि वह इन्तज़ार करती-करती हार गई थी। वादा तो इसलिए किया जाता है ताकि वह जल्दी पूरा हो।

राघवन इस मामले में अपने को दोषी मान रहे थे, माँ-बाप को दोष दे रहे थे। ठीक है, आखिर इन्तजार की भी तो हद होती है। कैथरीन कुछ समय के लिए राघवन की शिष्या थी और अब कॉलिज में पढ़ा रही थी। उसका परिवार था तो निम्न मध्यवर्ग का ही, लेकिन कुछ भिन्न खयालातों का था। उसकी कई बहनें थीं, दो बड़ी और दो छोटी। बड़ी की शादी हो चुकी थी, अपने समुदाय से बाहर ही। शादी क्या हुई कि उसकी हैसियत यकायक बढ़ गई थी। दोनों के पति बड़े अफसर थे, और उनकी अच्छी खासी आय थी। कैथरीन की इच्छा थी कि वह भी जाति और धर्म से बाहर शादी करे; तब उसके पीछे भी शायद यह इच्छा थी कि वह भी और बहिनों की तरह शादी करके अपनी हैसियत बढ़ाए।

कैथरीन शक्ल-सूरत में कोई खास खूबसूरत न थी, न वह बदसूरत ही थी, रंग भी साँवला, छरहरा बदन, पर उसमें एक तरह की कसक थी, जो नौजवानों को मतवाला कर सकती थी। उसका कई से परिचय था, पर शायद किसी से उतना घनिष्ट नहीं जितना कि राघवन से था। गुम-सुम-सी लड़की खास बदनाम भी नहीं।

राघवन से परिचय कई सालों से था और परिचय धीमे-धीमे प्रणय में परिवर्तित होता जा रहा था। दोनों का रोज मिलना-जुलना हो तो शादी का न होना जरा अखरता है। कैथरीन के माँ-बाप को राघवन से शादी करने में कोई एतराज न था। लेकिन राघवन के पिता सख्त नाराज थे। उन्होंने इशारा करके देखा था, मशवरा देकर देखा, आखिर डाँट डपट कर भी देखा पर राघवन उनकी बात सुनने को राजी न था।

राघवन ने भी सोचा कि वह माँ-बाप का लिहाज कर रहा था। लिहाज करते-करते चार साल बीत गए, लेकिन वे न बदले। अब किया भी क्या जा सकता

है ? बात केवल मेरी ही तो नहीं है, कब तक कैथरीन मेरा इन्तजार करती कंवारी बैठी रहे। इसलिए कुछ भी हो राघवन ने कैथरीन से शादी करने का निश्चय कर लिया था। वे तो पिता से हल्की झपट के तुरन्त बाद ही रजिस्ट्रेशन ऑफिस में शादी कर लेना चाहते थे; अगर कैथरीन को सिर दर्द न होता।

राघवन जब घर गए तो उनके पिता वहाँ न थे। न माता ही। पूछने-ताछने पर पता लगा कि वे मन्दिर चले गए। घर मे ही पूजा के कमरे मे ही वे दोनों दिन का बहुत समय पूजा मे बिताते थे और वे मन्दिर तभी जाते थे जब कि वे कोई मुख्य मनौती करना चाहते थे। यह राघवन अनुमान कर सकते थे, और मनौती भी क्या हो सकती थी, यह भी जानते थे। आखिर उनको इतनी ज़िद क्यों है ? महज़ इसलिए कि कैथरीन ईसाई है ? महज़ इसलिए कि वह कोई दहेज नही ला सकती ? या महज़ इसलिए कि वह भी मेरी जितनी पढी-लिखी है ? आखिर क्यों ? वे हैरान थे, और शायद दोनों ही जानते थे कि ज़िद ज़िद को पैदा करती है।

राघवन तुरन्त कैथरीन के यहाँ गए। वे उनके माँ-बाप से मिले। तब उनको मालूम हुआ कि उनके पिता भी उनसे मिलने गए थे, और उनको मनाने गए थे, कि जैसे भी हो, यह सिलसिला यही खत्म हो जाए। वे मन्दिर नही गए थे।

कैथरीन के पिता ने कहा, "दोनों ही सयाने है, बालिग है। आखिर हम कर ही क्या सकते हैं। कामकाजी हैं, कमाऊ है। क्यो हम उनके बीच पड़ें ?"

राघवन को यह अच्छा नही लगा कि उनके पिता कैथरीन के पिता से बात करें, आखिर मैं कोई दुधमुँहा बच्चा तो नहीं हूँ, न आलसी बेकार आदमी ही। ये बूढे लोग मदद करें या न करें, फिज़ूल की दिक्कतें पैदा कर देते है। उनकी ज़िद और बढ गई।

उसी समय वे अपने सहयोगी दो प्राध्यापकों को लेकर रजिस्ट्रार ऑफिस गए और इस तरह कैथरीन से शादी कर आए जैसे कचहरी मे कोई अर्ज़ी दाखिल कर आए हों। यह शुभ काम बहुत पहले हो जाना चाहिए था, देर से ही सही आखिर हो ही गया। यही काफी है। राघवन ने यह सोचा और उनके हितैषियो ने यह कहा भी।

वे उस दिन घर नही गए। होटल मे एक बढ़िया कमरा ले लिया गया था जहाँ राघवन ने अपने सहयोगियों और मित्रो को दावत दी थी। लोग तो बहुत

नहीं थे और जो थे वे बहुत निकट के थे। कैथरीन के माँ-बाप थे; बहिनोई थे। और उनके बच्चे। और सब खुश थे। राघवन की तरफ से कोई भी न था और उनको इस बारे में कोई विशेष गिला भी न था।

राघवन और उनकी पत्नी होटल में थी, और होटल में वह सब हुआ जो शादी के समय अक्सर हुआ करता है। राघवन जो शाकाहारी थे, और काफी भी ज्यादह न पीते थे, जाने उस दिन उनको क्या सूझा कि कैथरीन के रिश्तेदारों के साथ उन्होंने भी थोडी बहुत पी ली।

कैथरीन और राघवन ने अलग मकान किराये पर ले लिया था। राघवन न चाहते थे कि शादी को लेकर उनके घर में कोई ऐसी बात हो, जिसे देख या सुन कैथरीन का मन हमेशा के लिए खट्टा हो जाए। और कैथरीन के घर इतनी जगह न थी कि राघवन को अलग कमरा मिल सके। राघवन को भी यह मंजूर न था।

वे दोनों स्कूटर पर अपने घर जा रहे थे कि सडक पर कैथरीन की महीन लंबी साड़ी पहिये में जा अटकी और उसके बदन से साड़ी खिचती गई और चीखती-चीखती वह नीचे गिर गई। राघवन ने ब्रेक लगा कर गरदन जो मोडी तो एक लॉरी उसके स्कूटर से टकराई। स्कूटर तो पटरी के पास जा लगा और वे दोनों सडक के बीचों-बीच। राघवन के सिर पर चोट लगी थी और वह बेहोश पड़े थे और कैथरीन बिना साडी के एक पेड के पीछे खड़ी थी। वह चिल्ला रही थी; सिसक रही थी। देखते-देखते पांच दस लोग जमा हो गए

एक स्त्री कैथरीन को पास अपने घर ले गई। और लोग राघवन को हस्पताल। कुछ लॉरी के बारे में पुलिस को इत्तिला देने पुलिस स्टेशन गए। जाने लॉरी कहाँ चली गई थी।

कैथरीन को खास चोट न लगी थी, पर राघवन का हाल खराब था। सब अंग ठीक थे कहीं कोई खून नहीं। पर सिर में पता नहीं कहाँ चोट लगी थी कि आँखे देखती लगती थीं पर किसी को पहिचानती नहीं थीं। मुँह से बात क्या निकलती थी, सिर्फ आवाज़ आती थी; जैसे वह बच्चों की तरह तुतला रहा हो। डॉक्टरों ने कहा कि उसके दिमाग में कुछ ऐसा धक्का या चोट कहीं लगी थी कि उसकी स्मरण शक्ति ही जाती रही।

कहने वालों ने कहा, और कई ने सोचा भी कि राघवन को माता-पिता की

आशा के धिक्करण का दण्ड मिल गया।

राघवन के पिता उसको घर ले गए उसकी हालत बच्चों की-सी थी। पर कहीं कोई प्रकट चोट न थी। घाव नहीं, पर राघवन राघवन न था। चेहरे पर एक अजीव मायूसी, जैसा बच्चा हो और माँ-बाप को दिन-रात साथ बगल में चाहता हो।

राघवन के पिता हैरान। माता परेशान। उनको लगा कि बुढ़ापे में उनका लड़का फिर बच्चा हो गया था। दिन-रात रोते। अपने को कोसते। कहीं उनकी ही बद्दुआ तो उनको न लग गई थी।

कई दिन इन्तज़ार किया, पर राघवन की हालत न सुधरी। वक्त काटने के लिए जब राघवन के पिता ने किताबें उनके सामने रखी, तो उन्होंने किताबें इस तरह हटा दीं, जैसे पढ़ना ही न जानते हों। उनके हाव-भाव से लगा जैसे वह कुछ समझते ही न हों। राघवन के पिता जान गए कि उनका पढ़ा-लिखा विद्वान लड़का पढ़ना-लिखना ही भूल गया था। उन्होंने अपना माथा ठोक लिया। क्या यह दिन भी बुढ़ापे में देखना था?

दो-चार बार कैथरीन आई। कुछ रोयी-धोयी भी। उसको सब कुछ इस तरह याद था कि वह कुछ भूल न पाती थी। सोच न पाती थी क्या किया जाए। वह न राघवन के पिता से बात करती, न उनकी माता से ही। जैसे यह सब उनके अभिशाप से हुआ हो।

एक बार वह जाते-जाते कह गई—आपने इनको हमेशा बच्चा समझा, खुद शादी करने लायक बालिग भी न समझा, अब ये सचमुच बच्चे बन गए हैं। पढ़ाइए इनको अब नए सिरे से।

राघवन के पिता स्लेट लेकर राघवन के सामने बैठते और उनको उसी तरह पढ़ाते, अक्षर सिखाते, जिस तरह उनको कभी बचपन में सिखाया था।

'अ, आ आ—वे कहते और उनके पीछे राघवन कहते, "अ, आ।'

'आ, आ।'

'आ, आप।'

राघवन के पिता की आवाज़ घुट जाती, आँखों में आँसू आ जाते। वे एक तरफ अपना मुँह मोड़ लेते। "क्या पढ़ाना? एक बार पढ़ाया और क्या नतीजा निकला?...पर..." वे सोचते।

वे नाक पोंछने के बहाने गुसलखाने में गए। मुंह हाथ धोया। वह तो गई। अब क्या आएगी, वह किसी और चिड़े के साथ चली जाएगी। पर और जगह फुदकेगी। लड़का तो मेरा रहेगा, काम के लिए न सही, शादी के लिए न सही, घर बार चलाने के लिए न सही, कम से कम वक्त काटने के लिए तो पढ़े। न मालूम यह कब तक चले ?

वे राघवन के पास गए। वे दो स्लेटों को इस तरह रख रहे थे जैसे वे किसी घर की छत हों और फिर उनको उन्होंने एक झपट्टे में नीचे गिरा दिया, मानो कह रहे हों 'घर उजड़ गया, बरबाद हो गए।'

राघवन के पिता चौंके। क्या इसकी याददाश्त फिर आ गई है। वे बड़े खुश थे।

"बेटा, क्या तुम्हारी किताबें ला दूं ?"

राघवन ने कोई ऐसी बात न दिखाई जिससे यह मालूम हो कि वे कुछ-कुछ समझ रहे हों। राघवन के पिता की आशाओं पर पाला पड़ गया।

वे अपनी पत्नी के पास गए और राघवन आगे-पीछे होते हुए रट रहे थे—
अ, आ, अ, आ।

घर में यही आवाज़ गूंज रही थी और श्री अनन्त कृष्णन के मन में 'क्या इसलिए ही पढ़ाया-लिखाया था···?' इस ध्वनि-प्रतिध्वनि में वे बेहद परेशान थे।

० ०

राजनेता

"तो हम ही खड़े होंगे।" श्री अरिदमन सिंह ने इस बार भी बड़ी संजीदगी के साथ कहा। इन तीस वर्षों में छ-सात चुनाव आए, और हर बार वे चुनाव में खड़े हुए और जीते।

उनके पास बैठे लोगों को श्री सिंह का निश्चय सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ। सन्तोष हुआ। वे श्री सिंह के पुराने आदमी थे, जैसे उनके पुरखे श्री सिंह के पुरखों के पुराने आदमी थे। वे सब उनके परिवार की परम्परा से जुड़े हुए थे, दुनिया के बहुत बदलने पर भी यह परम्परा बदल अवश्य गई थी, पर कायम थी।

श्री सिंह अपने इलाके से विधान-सभा के प्रतिनिधि थे। कुछ साल पूर्व उनकी पत्नी भी विधान-सभा में थी। एक समय था जब कि वह सारा इलाका उनकी ज़मीदारी में था। ज़मीदारी खत्म हो चुकी थी, पर ज़मीदारी की धाक अब भी उनके बदौलत कायम थी।

श्री सिंह इस बार चुनाव नहीं लड़ना चाहते थे। अब उनको विधान सभा में जाना कठिन था। द्विविधा में थे। यह पद भी अगर न रहे तो बिना पद ओहदे के उस इलाके में रहेंगे कैसे?

खर्च का भय था। जमीदारी तो थी नहीं कि आय का रास्ता फिज़ूल खर्ची के बावजूद बना रहे। अगर ज़मीदारी होती तो इन ऐरेगैरों के साथ वे बैठते ही क्यों? वे इस बार खर्च करना नहीं चाहते थे। हर चुनाव में उनको कर्ज़ लेना पड़ा था। यूँ तो पहले ही पहाड़-सा कर्ज़ और अब और कर्ज़ लेना पड़ेगा।

परिस्थितियाँ बदल जाती हैं पर पारिवारिक परम्पराएँ तो नहीं बदलतीं। उनके साथ जुड़े हुए मूल्य नहीं बदलते, भले ही उनके लिए बड़े बलिदान करने पड़ते हों। श्री सिंह पुराने ज़माने के ठाट-बाट वाले ठाकुर आदमी थे, ठकुराई तौर

तरीके थे उनके।

श्री सिंह नहीं चाहते थे कि उनके होते कोई और उस इलाके का प्रतिनिधित्व करे। सदस्यता से कम से कम एक प्रकार का दबदबा तो रहता था, नहीं तो कोई क्यों पूछेगा?

वे यह न मानते थे कि उनके कारण ही उनके इलाके के एक छोर पर कुछ सशस्त्र उग्रवादी गड़बड़ कर रहे थे। श्री सिंह इसी में सन्तुष्ट थे कि अगर वे गड़बड़ी से हट गए, तो सारा इलाका उनके हाथ आ जाएगा। बातें तो कई थीं; उनका यह भी ख्याल था कि उनके होते अधिकारी उनका लिहाज करेंगे और उनको वह सम्मान देंगे जिसे वे अन्यथा उन्हें न देते। पुराना परिवार है। कितनी ही उलझी हुई बातें हैं। रोजमर्रे कोई न कोई काम सरकार से बना ही रहता है, और विधान सभा की सदस्यता से कुछ आड़ मिल जाती है।

उनके मझले लड़के राजनीति में थे। घर बार छोड़-छाड़ कर उग्रवादियों के साथ मिले हुए थे। नए ख्यालातों के, नई पीढ़ी के नव युवक। श्री सिंह अपना निश्चय घोषित करके, हाथ झाड़ कर, अपने अन्तःपुर में चले गए। निश्चय भर की देरी थी, उनके आदमी इतने थे कि शेष काम वे स्वयं कर करा लेंगे। वे निश्चिन्त थे।

श्री सिंह अपने निश्चय के बारे में अपनी पत्नी से कह सकते थे। लेकिन उन्होंने कुछ न कहा। उनकी पत्नी यह न चाहती थी कि वे उस इलाके में, उस पुराने पैतृक महल में रहें, जहाँ नौकर-चाकर भी अब न रहना चाहते थे, और जिसका साफ रखना भी मुश्किल, बिजली का खर्च इतना जबर्दस्त कि आधा महल हमेशा अंधेरे में रहता। महल होगा तो होगा, समझदारी के लिए अब तो वह मकान ही था। वे चाहती थीं श्री सिंह शहर में रहें, अपने कस्बे से दूर, महल से दूर।

रहे थे। पर इसके कारण कई समस्याएँ भी पैदा हो गईं। और उनके मंझले लड़के के सामने सबसे बड़ी समस्या थी, एक संकट-सा था।

श्री अरिदमन सिंह के मंझले लड़के, श्री चन्द्रभानु सिंह की पार्टी ने निश्चय किया था कि वह भी चुनाव लड़ेगा, और उनकी पार्टी ने उनको अपना चुनाव प्रतिनिधि चुना था। उनके लिए पार्टी मुख्य थी और परिवार गौण। पिता भले ही उनके विरुद्ध हो उनको अपनी पार्टी का निश्चय अमल मे लाना था।

पहले तो न पार्टी का निश्चय ही पक्का था, न श्री चन्द्रभानु सिंह का ही। पार्टी तब तक विधान सभाओं का बहिष्कार करती आई थी। उनके लिए वे धनिकों और सवर्णों की मच थी, और उनमे क्रांतिकारियों के लिए कोई स्थान नही था। किन्तु अब परिस्थितियाँ बदल गई थी, और वह भी चुनाव लड रही थी।

श्री चन्द्रभानु सिंह कई वर्ष भूमिगत रहे। वे पुलिस को चकमे देते रहे और अपना कार्य करते रहे। उनको शायद न मालूम था कि अगर वे पकड़े नहीं गए थे तो उसके पीछे उनके पिता का कितना बडा हाथ था। वे शायद यह जानना भी न चाहते थे।

वे अपने पिता के साथ रहना भी न चाहते थे यद्यपि उनके बच्चे, और उनकी पत्नी उनके न चाहते हुए भी उनके पिताजी के साथ उन्ही के महल मे रहा करते थे, हालाँकि उनकी पिता से बातचीत तक न थी। एक तरह की मजबूरी थी।

जब वे भूमिगत थे, तो पुलिस ने उनकी पत्नी और नौकर-चाकरों को सताना शुरू किया; यह जानने के लिए श्री चन्द्रभानु सिंह कहाँ थे। वे तब अपने ही मकान मे रहते थे, जो बटवारे मे उनके हिस्से में आया था। श्री अरिदमन सिंह से यह न देखा गया। वे अपनी बहू को अपने महल में ले गए ताकि वे पुलिस वालों की पूछताछ से बरी रहें। पर इस कारण उनके लड़के विशेष खुश न थे।

श्री चन्द्रभानु सिंह भले ही अपने को क्रांतिकारी समझते हो पर पिता की नज़र मे वे भटके हुए बुद्धुक थे। उन्होंने स्वयं दूसरी शादी क्या की कि पिता-पुत्र का रहा सहा सम्बन्ध भी करीब-करीब जाता रहा। फिर लड़के की हरकतें ऐसी कि अरिदमन सिंह कुछ कर भी नही सकते थे।

जबसे उनके बड़े लड़के गुज़रे थे, श्री अरिदमन सिंह चिन्तित थे। कई बातों से वे परेशान थे। मेरे बाद क्या होगा इस परिवार का ? क्या होगा हमारी माल-

मिल्कियत का ? क्या होगा हमारे जमींदारी प्रभाव का ? समय बदलता हो, पर वे तो नहीं बदल पाए थे। एक लड़के हैं और वे परिवार का नामोनिशां मिटाने के लिए उतावले हो रहे थे, अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे थे। जो भी हो पिता-पुत्र में तीन-छः का रिश्ता था। सामन्ती परिवार था। वैसे भी उनके संबंध औपचारिक थे, अब तो दोनों में कुछ-कुछ वैर भी था।

श्री अरिदमन सिंह को ही शायद सबसे बाद वह खबर मालूम हुई जिसकी शहर में गूँज थी। कई अगर खुश थे कि पिता-पुत्र लड़ेंगे और उनके परिवार का दबदबा हमेशा के लिए खत्म होगा तो कई दुखी भी कि एक पुराना घराना आपसी झगड़ों के कारण हमेशा के लिए मिट मिटा न जाए।

श्री अरिदमन सिंह अब अपना निश्चय बदल भी नहीं सकते थे। शायद वे बदलना भी नहीं चाहते थे। कोई और होता तो भी कोई बात थी, उनके लड़के तो ऐसे लोगों के अगुआ बनेंगे कि जो कुछ हमारे परिवार ने अब तक किया है उसे सामन्ती चिह्न कहकर धराशाई कर देंगे। अगर उनके मन में कहीं यह बात उठती तो वे यह भी सोचते कि लड़का ही है, 'अगर बाप बेटे में लड़ाई रही हो, तो समाशबीन गिद्धों की तरह जमा हो जाते हैं—और…' वे अभी सोच ही रहे थे कि उनकी पत्नी ने आकर ताना कसा "आप शरण देते हैं उनके परिवार को और वे आपकी जड़ काटने में लगे हुए हैं।"

"हूँ।"

"लड़का हो तो ऐसा जो राजनीति के नाम पर पिता को ही नीचा दिखाए।"

"हूँ।"

"मैं तो कह रही थी, और जाने कब से कह रही हूँ, वे आपको कहीं का भी नहीं छोड़ेंगे। उन क्रान्तिकारियों में वे इसलिए शामिल नहीं हुए हैं कि वे क्रान्ति चाहते हैं पर इसलिए कि उनसे मिल कर आपका चैन लूटें, सताएँ, परेशान करें।"

"हूँ।"

"हूँ-हूँ, क्या कर रहे हैं ? कुछ सोच भी रहे हैं कि क्या होगा ?" उनकी पत्नी ने अपनी आवाज ऊँची की। वे अक्सर अपने पति से लड़ती-झगड़ती थीं, और श्री सिंह के पास अब एक ही अस्त्र शेष रह गया था और वह था मौन। जब सम्भव न होता था, तो फूट पड़ते थे और महीनों दोनों में बातचीत तक न

होती थी ।

"आप कहते हैं कि उनके पास पैसे नही हैं, और इसलिए आप उनका घरबार पालते हैं, हालांकि बँटवारे मे वे अपना सारा रुपया ले चुके हैं, एक-एक पाई। कौन जानता है कि उसको कहाँ लगा रखा है ?"

"हूँ,"

"आप चुप रहेंगे, और अपनी भलमानसी दिखाते रहेंगे, और ये चुनाव लड़ेंगे और जीतेंगे और हमे तबाह करके रखेंगे।"

"हूँ," श्री सिंह को अपनी कैकेयी पर शायद अचरज हो रहा था।

"कुछ भी हो आप चुनाव लडिए।"

"हाँ, हाँ, [illegible] लिया है, मैं चुनाव लड रहा हूँ।"

"आपके लोग सोचेंगे कि जब आपके राजकुमार लड रहे हैं तो उनको भी कुछ वोट मिलने चाहिएँ, भले ही उनकी कोई पार्टी हो। ब्लू ब्लडेड एरिस्टोक्रेट जो है।"

"हूँ,"

"आप अपने आदमियों को खबर भिजवा दीजिए कि आपका उनसे कोई सम्बन्ध नही है।"

"हूँ, खबर ? क्या खबर ? सब जानते तो है।"

"सब नही जानते है, आपको कहना होगा, कहलवाना होगा। इस बार आपको महल मे बैठे-बैठे वोट नही मिलेंगे। आपको घूमना फिरना होगा, केनवेस करना होगा।"

"हूँ, वह तो मैं जानता हूँ।"

"आप अपनी शालीनता, उदारता, पुश्तैनी दरियादिली, एरिस्टोक्रेसी उन लोगों पर नही आजमाइए, जो इस सबके काबिल नही है। और आपके ये पुत्र-रत्न, पुत्ररत्न नही, वंशोद्धारक है, वंशोद्धारक।" वंशोद्धारक का उच्चारण उन्होने इस प्रकार किया था जैसे उसमें ताने-उलाहने का बारूद भरा हो।

इतने मे किवाड़ के पीछे आवाज हुई। किसी के आने की ध्वनि हुई।

"क्यों मैं आ सकती हूँ ?"

"हूँ, आ गई है आपकी पुत्र वधु।" उनकी पत्नी ने कहा, और उन्होने किवाड़

की तरफ इस तरह घूरा जैसे यह अनुमान पक्का कर रही हो कि वे वहाँ बहुत देर से तो खड़ी न थी और छुपे-छुपे उनकी सारी बातें तो नही सुन रही थी। 'बिल्कुल अशिष्ट, बत्तमीज—' उनकी सौतेली सास ने सोचा, पर वहाँ रहना उन्होंने उचित न समझा। वे पास के कमरे में चली गईं और किवाड बन्द कर लो।

श्री सिंह और उनकी पुत्र वधु, दोनों ही जानते थे कि वे किवाड के पीछे बैठी होंगी और उनकी बातचीत सुनने की कोशिश कर रही होंगी। श्री सिंह वैसे ही कम बोलते थे, और जब खराब मूड में होते थे तो और भी कम बोलते थे और प्राय. तब तक न बोलते थे जब तक कोई उनसे पहले न बोले।

'नमस्कार," पुत्र वधु ने अभिवादन किया।

श्री सिंह ने सिर झुका दिया।

"मैं शायद गलत समय पर आई हूँ।"

"नहीं तो—"

"सुना है कि पुलिस ने अब उन क्रान्तकारियों पर पाबन्दी हटा दी है और उनको भी घूमने फिरने की आजादी है।"

"हूँ, हां,"

"मैं उनसे मिलने जा रही हूँ।"

"कहाँ ?"

"जहाँ वे है, जगल में।"

"जंगल से तो वे आ गये होगे।"

"अच्छा! मै नही चाहती कि वे चुनाव लडें, सुना है कि वे चुनाव लड़ रहे हैं। यह ठीक नहीं है, आप भी कह देखिए। मैं नहीं चाहती कि परिवार मे फूट हो और वह भी राजनीति को लेकर।"

"हूँ, मैं क्या कह सकता हूँ ? वे सयाने है। बड़े हैं, स्वयं पिता है। उनको खुद सोचना चाहिए, उन्हें रोकने का मुझे क्या हक है ?" श्री सिंह ने कहा।

"जी, यह चुनाव चुनाव नही है, हमारे लिए जलजला-सा है। घर की ज़िद घर में ही रहे तो अच्छा है—मैं यह कह देना चाहती हूँ।"

"हूँ, अच्छा।"

"मैं जा रही हूँ।"

"कार ले जाना, साथ दो एक नौकर भी; बच्चों को यहीं छोड़ जाओ। उनका घर है, अगर यहीं रहना चाहते हों तो रहें, नहीं तो अपना महल है ही, मुझे कोई एतराज नहीं है।" श्री सिंह ने कहा। उनकी पुत्र वधु का स्वर रुँध गया था, आँखों में तरी आ गई थी। वे चली गईं। वे अच्छे बड़े घराने की थीं, पुराने खानदान की थीं, खानदानी तौर-तरीके थे उनके।

वे क्या गईं कि श्री सिंह की पत्नी लपकी-लपकी आईं। कहने लगीं कि "इस उदारता ने ही हमारा सत्यानाश कर रखा है। यह बहू चालाक है। न अलग होने देती है, न साथ ही रहने देती है।"

श्री सिंह मुस्कराए। उस मुस्कराहट के पीछे जाने कितना अनुभव था, कितनी समझदारी थी, कितना भेद था। उनकी पत्नी पैर पटक कर वापिस कमरे में चली गईं।

चुनाव में नये-नये पेंच आ रहे थे। नये-नये दाँव आजमाये जा रहे थे, सारे क्षेत्र में सरगर्मी थी। कई का कहना था कि पिता जीतें या पुत्र, रहेगा तो उसी परिवार का ही बोलबाला। पुरानी पीढ़ी वाले अब भी उनको मानते थे। पर नई पीढ़ी वाले उनके विरुद्ध ही न थे, बल्कि उनके परिवार के भी विरुद्ध थे। और परिवार के प्रभाव और प्रभुत्व के विरुद्ध थे।

मजदूर नेता बहुत थे और उनमें कई वे भी थे जिनकी श्री चन्द्रभानु सिंह की पार्टी से न बनती थी। एक मजदूर नेता जब चुनाव के दगल में उतरे तो कहा गया कि श्री अरिदमन सिंह ही उनको प्रोत्साहित कर रहे थे। और वे इस तरह उन मतों को बाँट रहे थे, जो उनके पुत्र के पक्ष में जा सकते थे। यह अन्दाज़ लगाना मुश्किल था कि यह कहाँ तक सच था क्योंकि उसका श्रेय श्रीमती अरिदमन सिंह को भी दिया जा रहा था। होते होते एक नहीं और दो नेता भी आए जो 'दलित,' 'बलहीन' वर्गों का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर रहे थे।

श्री अरिदमन सिंह खुश थे, और कुछ चिन्तित भी। कोई आये जाये, उनको अपने लड़के से, अगर हराना ही था तो हारना मंज़ूर था लेकिन किसी और से नहीं। अगर भाग्य ने किसी और का साथ दिया तो? किन्तु वे अपनी चिन्ता कहीं व्यक्त नहीं कर रहे थे, न उनके आदमी ही जो उनको बरसों से जानते थे।

किन्तु, श्री सिंह के एक सम्बन्धी, जो उन्हीं की तरह सामन्ती परिवार के थे, और जो कभी श्री सिंह की कृपा पर ही ज़मींदारी रद्द होने से पहले जीवन

व्यतीत करते थे, अब चुनाव मे आ गए थे। उनका उद्देश्य स्पष्ट न था। पर कोई वेकार जब 'जनता' का प्रतिनिधि बन कर काम ढूंढ सकता है, तो शायद वे भी ढूंढ रहे थे। यह भी सम्भव है कि अपनी उमीदवारी घोषित करके श्री सिंह से कुछ पैसा ऐंठने की कोशिश कर रहे हों।

श्री सिंह का परिवार बहुत बडा था, और उनकी जाति के ही लोग उस क्षेत्र मे काफी सख्या में थे। उनके सम्बन्ध श्री सिंह से कुछ भी हों, उनके मत उन्ही को ही मिलते थे। अब एक और सज्जन आ गए थे जो उनके मत ले सकते थे। बात परिवार और जाति तक ही सीमित रहती तो शायद कोई विशेष फर्क न पडता, पर इस परिवार और जाति के सदस्यों का प्रभाव इतना व्यापक था कि उनके इशारे पर उनके प्रभाव मे आए हुए मत भी जा सकते थे।

यह सुना गया कि वे श्री सिंह के लडके, श्री चन्द्रभानु सिह के प्रोत्साहन पर ही वे खडे किए गए थे। कहा गया कि श्री चन्द्र भानु सिंह को वैसे भी उन वोटों के मिलने की आशा न थी। चूंकि वे स्वय वामपन्थियो के प्रतिनिधि थे और वामपन्थ इस वर्ग वालों के लिए हैजे से भी भयानक था।

जो भी हो, चुनाव मे तनातनी आ रही थी। जहाँ इतने लोग आए तो दो-चार और भी खडे हो गए। सीट एक थी और उम्मीदवार आठ। श्री सिंह निश्चिन्त थे। वे जानते थे कि जितने अधिक उम्मीदवार होंगे, उतने ही वोट बंटेंगे, और एक वे ही ऐसे थे जिनको सबसे ज्यादह वोट मिल सकते थे।

फिर भी वे हाथ पर हाथ दिए न बैठे थे, वे घूम-फिर रहे थे। उनकी पत्नी जो प्राय: घर से कम ही निकलती थी उन दिनों स्त्रियों मे मिलने उनके घरो में जाने लगी। कैन्वेसिंग करने लगी।

श्री चन्द्रभानु सिंह की पत्नी भी यह कर सकती थी, पर उन्होने नहीं किया। जो कठिन से कठिन समय मे भी माइके न गई थी, वे उन दिनों माइके चली गई। उन्होंने अपने पति को मनाने की कोशिश की, जब वे न माने, तो चुनाव के दौरान उन्होंने वहां रहना ही उचित न समझा। श्री चन्द्र भानु सिंह को उनका जाना पसन्द न था। वे उनका साथ सहयोग चाहते थे, लेकिन उनकी पत्नी को तटस्थ रहना ही पसन्द था और जब तटस्थ ही रहना था तो अपने घर जाकर रहना ही वेहतर था।

श्री चन्द्रभानु सिंह के राजनैतिक विश्वास कुछ भी हो, पर वे सामन्ती

खानदान के थे, उनकी पत्नी भी सामन्ती खानदान की थी। भले ही वे सामन्ती मूल्यों को नकारते आए हों, और साधारण व्यक्तियों की ज़िन्दगी ही बसर करते आए हों, पर उनकी पत्नी में अब भी बड़े घर की शालीनता थी। वे जिस घर में बहू बन कर आई थी, उसको वह राजनीति के कारण टुकड़े-टुकड़े होते नहीं देखना चाहती थी। उनकी राजनीति में कोई दिलचस्पी न थी, न लेना ही चाहती थी। श्री चन्द्रभानु सिंह भी यह समझते थे इसलिए वे अपने साथियों के साथ भरसक अपना चुनाव कार्य करने की कोशिश कर रहे थे।

जब चुनाव होते हैं, तो जाने कितने ही परनालों से कितना ही रुपया आता है, और खूब बहता है। रुपया न हो तो भले से भला आदमी भी अक्सर हार जाता है। पर श्री चन्द्रभानु सिंह के पास कहीं से भी रुपया नहीं आ रहा था। एक राजकुमार को कोई रुपया दे भी तो कैसे दे? और राजकुमार कैसे कहे कि उनके पास पैसा न था। और उनकी पार्टी भी ऐसी कि उसके पास भी पैसा न था। श्री चन्द्रभानु सिंह पैसे की तंगी महसूस कर रहे थे।

उनकी मीटिंगों में लोग आते और उनको सुनते भी, पर कहना मुश्किल कि वे क्या सोच रहे थे। वोटों का वारा-न्यारा हमेशा भाषणों से तय नहीं होता। शहर में जगह जगह पोस्टर लगे हुए थे। और श्री चन्द्रभानु सिंह के पोस्टर कहीं न थे। पाँच दस जगह रंग से दीवारों पर उनका नाम अवश्य लिखा गया था। हेण्ड बिल भी नहीं छपवाए गए थे। गाडी-टैक्सी वगैरह भी किराए पर नहीं लिए गये थे। अजीब स्थिति थी।

श्री चन्द्रभानु सिंह पैदल स्वयं एक एक घर जा रहे थे। उस शहर में जिसके उनके पिता कभी राजा थे और वे स्वयं राजकुमार थे। एक दो मित्रों ने कार देनी चाही, पर उन्होंने लेने से इन्कार कर दिया। क्योंकि वे धनिक वर्गों का विरोध कर रहे थे इसलिए उनको कोई नैतिक अधिकार न था कि उनसे पैसा लें।

चाहे वामपन्थी ही बन गए हों, पर जब एक राजकुमार खुद हाथ जोड कर वोट माँगता हो तो कई देते भी, अगर उनके पिता चुनाव में न होते। हालांकि दिन बदल गए थे, लेकिन पुराने परिवार का अब भी सम्मान करने वाले बहुत थे।

श्री अरिदमन सिंह को जब मालूम हुआ कि और उमीदवार कारों में घूम फिर रहे हैं, और उनके लडके साईकल पर भी नहीं जा रहे हैं, तो वे बड़े दुखी

हुए। पशोपेश में थे। अगर कार भेजते हैं, और उनके लड़के न लें तो ? फिर उनके पास कारें थी भी कितनी ? एक ही थी, और उसका उपयोग वे स्वय कर रहे थे। जब श्री अरिदमन सिंह को मालूम हुआ कि उनके लड़के ने और से कार न ली थी, तो उनको खुशी हुई और उन्होंने अपना यह नैतिक कर्त्तव्य समझा कि राजनीति कुछ भी हो, पिता के नाते उनको कार देनी ही चाहिए। वह लें या न ले।

उन्होने अपनी कार चन्द्रभानु सिंह के पास भिजवा दी। पैट्रोल वगैरह का खर्च भी अपने ही हिसाब मे डलवाने की हिदायत दी। कार की जरूरत तो थी, और पिता को, चाहे वे प्रतिद्वन्द्वी ही हो, मना करना मुश्किल। चीज प्रेम से दी जाए और न ली जाए तो वह देने वाले का अपमान ही तो है। श्री चन्द्रभानु सिंह ने कार ले ली।

श्री अरिदमन सिंह ने दो-चार कार किराए पर रख ली यद्यपि पैसे की खासी किल्लत थी। उनकी पत्नी ने इसलिए अच्छी डाँट भी लगाई उनको। लेकिन वे खुशी थे।

जब चुनाव का दिन नजदीक आने लगा तो पैसे की वर्षा-सी होने लगी। और कुछ आसार दिखाई देने लगे कि चाहे कोई भी जीते, ढेर सा पैसा लगाना होगा। लेबर लीडर जो गरीब समझे जाते थे जाने कैसे एकाएक धन्ना सेठ हो गए थे। वे भी पैसा लुटा रहे थे। बहुमत उन्ही का बनता-सा लग रहा था।

श्री अरिदमन सिंह को वह पसन्द न था। रियासत तो थी नही, रिहाइश का महल था, और उस पर भी काफी कुछ कर्ज। इस बार उसके आस-पास की जमीन को गिरवी रख कर उन्होने कर्ज लिया और अन्धाधुन्ध पैसा खर्चने लगे।

श्री अरिदमन सिंह अपने पुत्र के लिए भी खर्च कर रहे थे। वे अपना प्रचार तो कर ही रहे थे। चुनाव कुछ भी हो, अब यह उनके परिवार की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। श्री चन्द्रभानु सिंह भी यह समझते थे। वे चुप थे। श्री अरिदमन सिंह की पत्नी उबल रही थी। बाहर अन्धड था, तो महल के अन्दर तूफान चल रहा था। "अगर तुम इस तरह अपने लडके से मिलना चाहो तो मिलो, मै नही देख सकती यह सब। या तो वे रहेंगे इस घर मे नही तो मैं ? सहने की भी हद होती है।"

श्री अरिमदन सिंह चुप थे। वे 'हूँ,' भी न कर पाए।

और इधर श्री चन्द्रभानु सिंह सोच रहे थे 'पैसा खर्च करें या न करें, पिता जी की उस सामन्तता का मैं विरोध करूँगा, जिसके कि वे समर्थक हैं।'

और अगर श्री अरिदमन सिंह कहते सुने गए—"पैसा तो उन्ही का है, अगर मैं न खडा होता तो वे ही खडे होते क्या परिवार का पैसा न लगाते ?"

चुनाव हुआ और श्री अरिदमन सिंह विजयी घोषित हुए। श्री चन्द्रभानु सिंह को उनके बाद सबसे अधिक मत मिले थे। श्री अरिदमन सिंह इसलिए खुश न थे कि वे जीते थे, पर इसलिए कि कोई और नही जीता था। और उनका लडका ही उनका निकटतम प्रतिद्वन्द्वी साबित हुआ। उनके लिए यह साबित हो गया कि भले ही हवा सामन्तवाद के खिलाफ हो, पर उनके परिवार के खिलाफ उतनी न थी। साम्यवाद आए या कोई और वाद। वे तो यही चाहते थे कि उनके परिवार की पारम्परिक प्रभुता बनी रहे।

जीतने से पहले अरिदमन सिंह की एक मनोदशा थी, और अब जीतने के बाद एक और तरह की बन गई थी। अब उनको परिवार ही परिवार दिखाई दे रहा था, और परिवार टुकडो-टुकडो मे बट रहा था। क्या किया जाए ? उनके सामने यही समस्या थी।

वे कुछ दिन तो विधान सभा के सदस्य रहे फिर उन्होने इस्तीफा दे दिया। परख हो गई थी। वे जनता का रुख जान गए थे। पुनर्निर्वाचन की घोषणा की गई। वे चाहते थे कि उनके लडके श्री चन्द्रभानु सिंह फिर खडे हो। और वे अपनी सारी शक्ति लगाकर उनको इसके लिए प्रेरित कर रहे थे, पर वे तैयार न थे। उनके अपने कारण थे। राजनैतिक विश्वास कुछ भी हो, पर वे भी सामन्ती सस्कारो से सर्वथा मुक्त न थे। वे अपने पिता के 'दान' को नही लेना चाहते। यह भी सम्भव है कि चुनावो के अनुभव ने उनके विचारो मे परिवर्तन ला दिया हो। उनको चुनाव लडने के लिए मजबूर किया गया था। यह भी सम्भव है कि एक चुनाव लड कर उनको इसकी निरर्थकता का भास हो गया हो या अपना पुराना काम अधिक उपयुक्त लगने लगा हो। उनका यह खयाल था कि 'प्रजातन्त्र' की भी क्या उपयोगिता है, निर्वाचन की क्या उपयोगिता है यदि जनता मे राजनैतिक चेतना एक निश्चित स्तर पर न आ गई हो ? आवश्यक था जनता मे चेतना पैदा करना। चेतना बनाने की योजना बनाकर वे फिर जगलो मे चले गए।

श्री अरिदमन सिंह, कहा गया कि अपने लड़के को विधान सभा का सदस्य बना कर उनको हिंसावादी कार्यक्रम से अलग करना चाहते थे और इस तरह अपने परिवार की सुरक्षा करना चाहते थे। लेकिन वे सफल नहीं हुए। जिस उद्देश्य से उन्होंने पुर्ननिर्वाचन की व्यवस्था की थी, वह विफल रहा।

बहुत कहने पर, और श्रीमती चन्द्रभानु सिंह के बहुत मना करने पर भी श्री अरिदमन सिंह ने अपनी पुत्र बधु को अपनी तरफ से उम्मीदवार रखा और वे जीत गईं। जीत तो हो गई थी और श्री अरिदमन सिंह प्रसन्न भी थे। यदि महल का एक भाग इस प्रकार सुदृढ आधार पर खडा कर दिया गया था तो दूसरा भाग एकाएक इस कारण ढह भी गया था, उनकी दूसरी पत्नी उनको छोड कर चली गई।

श्री अरिदमन सिंह ऐसा अनुभव कर रहे थे कि वे एक बडे महल मे अपनी ही इच्छा पर कैद थे। वे कभी-कभी यह भी कहते सुने गए, 'ये लोग हमारे हाथ पैर इस तरह न काट कर मार ही जो देते, कम से कम उनको क्रान्ति का श्रेय तो मिलता।'

० ० ०